॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

पश्चिमी दर्शनमें भ्रान्तिविचारके विकासकी रूपरेखा

(वाल्लभ वेदान्तानुसारी एक विमर्श)

(१)उपक्रम :

पश्चिमी दर्शनके इतिहासको प्रायः चार कालखण्डोंमें विभाजित किया जाता है : [१]प्राचीन यूनानी चिन्तन, [२]मध्यकालीन साम्प्रदायिक चिन्तन, [३]नूतन चिन्तन और [४]आधुनिक चिन्तन. तदनुसार भ्रान्तिकी विविध धारणाओंके विमर्शार्थ भी इन चार कालखण्डोंमें उसे पृथक्-पृथक् निहारनेपर ही एतद्विषयिणी मीमांसाके साथ उचित न्याय सम्भव है. और क्योंकि यह सारा विमर्शव्यायाम, मूलमें वाल्लभ वेदान्तानुसारी दृष्टिकोणके आधारपर अभिलषित है अतः भ्रान्तिज्ञानके बारेमें वाल्लभ वेदान्तकी जो धारणा है उसे भी पहले समझ लेना आवश्यक है. वह भी क्योंकि, पुनः ज्ञानमीमांसाके ही अन्तर्भूत विषय है, अतः वाल्लभ ज्ञानमीमांसाका और पाश्चात्य ज्ञानमीमांसाका भी अतिसंक्षेपमें विहंगावलोकन उपकारक ही होगा.

(२)वाल्लभ-ज्ञानमीमांसा :

सर्वप्रथम वाल्लभ वेदान्त एक ऐसी विचारधारा है जो उपनिषदादि शास्त्रैकप्रतिपाद्य सजातीय-विजातीय-स्वगत-द्वैतवर्जित सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मके[१] शुद्धाद्वैतको स्वीकारती है. अतः भ्रान्तिज्ञानार्थ अभ्युपगत 'अन्यख्याति'की

वाल्लभ धारणामें अन्यत्वकी ग्राह्य निरुक्ति एक औपक्रमिक समस्या है.

समाधानार्थ, परन्तु, यह अवधेय है कि ब्रह्मका निरूपण स्वरूपकोटि और लीलाकोटि यों दो भिन्न-भिन्न दृष्टिओंसे किया जाता है. अतः ब्रह्मके स्वीकृत स्वरूपके विचारसे तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभावरूप तो अन्य कुछ हो नहीं सकता. इसी तरह संयोगादि संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताक दैशिक और/अथवा कालिक अभावरूप असत् जैसा भी कुछ हो नहीं सकता है.[२] अतः भ्रान्तिज्ञानविषयीभूत अर्थको ब्रह्मातिरिक्त माननेपर अद्वैतभंग और ब्रह्मात्मक माननेपर अन्यत्वका दुर्निरूप्य लगना स्वाभाविक ही है. फिर भी अखण्डाद्वैत स्वयंप्रकाशज्ञानरूप ब्रह्म अथवा ज्ञान अपनी मूल ब्राह्मिक अवस्थामें स्वाभाविकतया विकल्परहित तो माना गया है परन्तु उसे विकल्पोंके द्वैतखण्डकों प्रकटनार्थ अक्षम अर्थात् सर्वभवनसामर्थ्यसे या अप्रतिहतसंकल्पशक्तिसे रहित नहीं[३] स्वीकारा गया है. अर्थात् यह ज्ञान निर्धर्मक नहीं होता प्रत्युत सधर्मक होता है. अतः धर्मिरूप ज्ञान स्वयं ब्रह्मको माना गया है और धर्मरूप ज्ञान वेदको. अर्थात् ब्रह्मतया वही सर्वज्ञाता है तो वेदतया सर्वज्ञानरूप भी.[४] अतएव वाल्लभ वेदान्त प्रकटाप्रकट वेदको सर्वज्ञ ईश्वरकी सर्वज्ञताके रूपमें निहारता है. अतएव नाम-रूप-कर्मात्मक अनेकविध ज्ञेय-ज्ञप्तिओंके भेदोंसे, अनेकविध ज्ञेयोंके भेदोंसे और अनेकविध ज्ञप्तिओंके भेदोंसे घटित इस सृष्टिको वह सर्वज्ञ ब्रह्म लीलया प्रकट कर सकता है, माया जैसी किसी उपाधिकी पराधीनताके बिना.[५] अतएव शास्त्रमें जहां मायाके सहकारकी चर्चा आती है वहां 'माया'पदके यथासन्दर्भ अनेक अर्थ वाल्लभ वेदान्तमें स्वीकारे गये हैं. भगवान्की अनेकानेक शक्तिओंमेंसे कहीं सर्वभवनसामर्थ्य, कहीं सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सदंशभूता जगदुपानरूपा प्रकृति, कहीं योगमाया, कहीं अविद्या, कहीं व्यामोहिका, कहीं कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुं स्वातन्त्र्य, कहीं आविर्भाव-तिरोभावशक्ति, कहीं इच्छा आदि. यों अनेक रूपोंमें 'माया' पदकी व्याख्या की जाती

है.[६] इसे मायावादका ही छद्म स्वीकार मान लेनेकी धांधल नहीं करनी चाहिये, क्योंकि शांकर वेदान्ताभिमत माया अपने सभी रूपोंमें ब्रह्ममें ''स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिनी'' होती है. वाल्लभ वेदान्तमें, जबकि, माया अपने किसी भी रूपमें ब्रह्मके साथ तादात्म्यभावापन्ना ब्रह्मात्मिका ही मानी गयी है. यह उतनी ही पारमार्थिक मानी गयी है कि जितना पारमार्थिक स्वयं ब्रह्म होता है.

अपनी इन अनन्त शक्तिओंको तिरोहित करके केवल चिदंशतया भी ब्रह्म प्रकट हो सकता है. तब ऐसे ये चिदंश निर्विकल्पक स्फुरणरूप ही केवल रह जाते हैं. ऐसे इन अनेक चिदंशोंको जब ब्रह्म अपनी सदंशरूपा प्रकृतिके अनेकविध परिणामों — चित्त अहंकार मन बुद्धि कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय पंचप्राणादि पंचतन्मात्रा पंचमहाभूतोंके संघातरूप — सूक्ष्म-स्थूल शरीरोंसे योजित करता है[७] तब यथायथ एक या अनेक करणोंकी उपाधिओंसे शुद्धचेतना उपहित हो जाती है. यों तप्तायसगोलकमें अग्निकी तरह सदंशरूप देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणोंमें चैतन्य पुनः प्रकट हो जाता है. बाह्याभ्यन्तर करणोंमें इस चैतन्यके औपाधिक प्राकट्यवश और बाह्याभ्यन्तर करणोंके पंचमहाभूतोंकी पंचतन्मात्राओंसे जुड़नेपर उन बाह्याभ्यन्तर करणोंमें होती विषयस्फुरणा बाह्याभ्यन्तरकरणोपहित चिदंशमें भी स्फुरित होने लगती है. अवधेय है कि मूल ब्राह्मिकी ज्ञप्तिमें तो नहीं परन्तु इस चिदंश और सदंश के परस्पर संघातके वश प्रकट होती ज्ञप्तिमें जिन देश-काल-वस्तुस्वभावके सन्दर्भमें जिन बाह्याभ्यन्तर करणोंके परस्पर सहयोगवश जिन नाम-रूप-कर्मोंका प्रतिभास और/अथवा अध्यवसाय होना चाहिये, उनके अलावा अन्य नाम-रूप-कर्मोंका प्रतिभास और/अथवा अध्यवसाय होना अन्यका प्रतिभास और/अथवा अध्यवसाय माना गया है. एतावता अन्यख्यातिकी धारणाद्वारा अभिप्रेत भ्रान्तिके स्वरूपको सुबोध्य बनाया जा सकता है.

वाल्लभ वेदान्तको अभिमत ज्ञानप्रक्रिया भागवततृतीयस्कन्धके छब्बीसवें

अध्यायकी सुबोधिनी और प्रस्थानरत्नाकर ग्रन्थोंद्वारा निर्दिष्ट रीतिके अनुसार यों है : शुद्धसत्त्वप्रधान सदंश प्राकृत चित्तरूप अन्तःकरणके द्वारा होता ज्ञान निर्विकल्पक आत्मप्रत्यक्षरूप होता है. मिश्रसत्त्वप्रधान चित्तपरिणामरूप अहंकारके भी करणतया साथ जुड़नेपर चिदंश-सदंशसंघातमें 'अहम्' इत्याकारिका ज्ञातृत्व-कर्तृत्व-शक्तिका बोध होता है. पुनः मिश्रसत्त्वप्रधान अहंकारपरिणामरूप ज्ञान-कर्मरूपा उभयशक्तिओंसे युक्त संकल्प-विकल्पात्मक मनके साथ जुड़नेपर चिदंश-सदंशके संघातमें ज्ञानेन्द्रियोसे गृहीत होते विषयोंके अनेकविध विकल्पोंको जान पानेकी (अर्थात् ज्ञातुम्-अज्ञातुम्-या-अन्यथाज्ञातुं) शक्ति प्रकट हो पाती है. यह इच्छातन्त्र न हो कर त्रिविधगुणोंके आधीन होती है. इसी तरह कर्मेन्द्रियोंसे सम्पन्न होनेवाले इष्टानिष्टोपेक्ष्य क्रियाओंको संकल्पोंके अनुसार कर पानेकी (अर्थात् कर्तुम्-अकर्तुम्-या-अन्यथाकर्तुं) इच्छातन्त्र शक्ति भी प्रकट होती है. रजोगुणप्रधान अहंकारसे बुद्धिरूप करण प्रकट होता है. इसके कारण इन्द्रियोपलब्ध विषयोंके स्फुरणके साथ-साथ मनसोपस्थापित तद्देशकालवस्तुमें आविर्भूत या तिरोहित विकल्पोंमेंसे एक या एकाधिक विकल्पोंका अवगाहन करनेवाली संशय निश्चय विपर्यास स्मृति अथवा स्वाप यों पांच तरहकी पृथक् वृत्तियोंमें से कोई एक वृत्ति प्रकट होती है. तमोगुणप्रधान अहंकारसे क्रमशः शब्दादि पञ्चतन्मात्रायें और उनकी ग्राहिका पांच श्रवणादि इन्द्रियां प्रकट होती हैं. इन्हीं पञ्च तन्मात्राओंसे स्थूलभावापन्न पञ्चेन्द्रियग्राह्य पञ्च महाभूत प्रकट होते हैं.[८]

इस ज्ञानप्रक्रियामें सर्वाधिक उल्लेखनीय तत्त्व यही है कि ज्ञानके मूल ब्राह्मिक स्वरूपमें तो ज्ञान-ज्ञेयका उभयात्मना प्राकट्य आत्मशक्तिद्वारा मान्य हुवा है, जबकि ब्रह्मके सदंशभूत प्रकृति-महद्-चित्ताहंकार-मनो-बुद्धि-कर्मज्ञानेन्द्रिय-तन्मात्रा और महाभूतोंमें ज्ञानप्रकटनसामर्थ्य स्वाभाविक नहीं प्रत्युत चिदंशावेशप्रयुक्त मानी गयी है. इसी तरह चिदंशमें भी ज्ञेयप्रकटनसामर्थ्य स्वभाविक न रह कर सदंशरूप विषयोंके साथ सदंशरूप करणोंके संयोगवश सिद्ध होती मानी गयी है. अतः दोनोंमें औपाधिक सामर्थ्यवश

इतरेतरप्राकट्यकारिता आती है स्वाभाविकतया नहीं. मूल ब्राह्मिक अंशिस्वरूप हो अथवा जागतिक चिदंशभूतस्वरूप, ज्ञानके दोनों ही रूपोंमें, ज्ञानसे ही ज्ञेयका प्राकट्य निरूपित हुवा है. फिरभी मूलरूप और सृष्टरूप के बीच यह एक तारतम्य सर्वथा स्पष्ट है कि देश-काल-वस्तुपरिच्छेदरहित ज्ञानके मूलरूपमें ज्ञेयका प्राकट्य ज्ञानस्वरूपान्तःपातितया ही होता है. अतः वहां स्वाप्निक ज्ञेयोंकी तरह कोई भी ज्ञेय अपनी ज्ञानात्मकता खो नहीं देते हैं. जबकि ज्ञानके चिदंशरूप सृष्टस्वरूपमें स्वयंसे नहीं प्रत्युत स्वसंहत सदंशात्मिका करणरूपा उपाधियोंकी सूक्ष्मावस्थाओंसे उत्तरोत्तर स्थूलावस्थापन्न बहिर्भूत ज्ञेय विषयोंका प्राकट्य बाह्यतया ही निरूपित हुवा है. व्युत्क्रमेण बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान भी स्वतः उत्पन्न होनेके बजाय क्रमशः विषयके साथ समनस्क इन्द्रियोंके सत्संप्रयोगसे इन्द्रियोंमें, उसके बाद पुनः मनमें, वहांसे बुद्धिमें और उस बुद्धिसे पुनः इन्द्रियानुग्रहके रूपमें प्रकट होता निरूपित हुवा है.

इस वृत्तिरूप ज्ञानके पांच प्रकारोंमेंसे द्वितीय विपर्यासरूप प्रकारके ज्ञानको महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने सुबोधिनीमें[९] 'अन्यख्याति'के रूपमें परिभाषित किया है. वहीं यह भी स्पष्ट किया है कि यह विपर्यासरूपा वृत्ति द्विराशिक ज्ञानरूपा नहीं होती और यह व्यामोहिका मायासे व्यामुग्ध बुद्धिकी राजसतामस अवस्थावश बाह्य वस्तुको अज्ञानविषय और/अथवा अन्यथाज्ञानविषय बनानेके कारण प्रकट होती है.[१०] अर्थात् निरुपाधिक भ्रान्तिमें अज्ञानविषयता और अन्यथाज्ञानविषयता दोनों होती हैं, जबकि, औपाधिक भ्रान्तिमें केवल अन्यथाज्ञानविषयताके कारण भी भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है. स्वापरूप ज्ञानमें, परन्तु, पुनः वृत्तिरूप ज्ञानके भीतर ही ज्ञेयका प्राकट्य होता होनेसे उसे इतर प्रकारोंकी भ्रान्तिसे भिन्न गिना गया है. अर्थाद् अन्यख्यातिके साधारण प्रकारोंमें संनिकृष्ट वस्तु या वस्तुगत गुणधर्म से भिन्न वस्तु या गुणधर्मों के भान और/अथवा निश्चय में न तो ज्ञेयहेतुक ज्ञानप्राकट्य होता है और न विकल्पज्ञानात्मिका वृत्तिसे बहिर्भूत किसी ज्ञेयका कोई ज्ञानहेतुक प्राकट्य होता है. फिरभी

वैसा प्रतिभास होना ही ज्ञानको भ्रान्तितया मान्य करनेको हमें बाधित करता है.

प्रस्थानरत्नाकरके[११] अनुसार निश्चयरूपा वृत्ति अर्थाद् अध्यवसायरूप ज्ञानमें बुद्धि पुरोवस्थित देश-काल-वस्तुमें अतिरोहित गुणधर्मोंका विकल्पतया अवगाहन करती होनेसे यथार्थज्ञानरूपा 'प्रमा' कहलाती है. इस प्रमाकारिका वृत्तिमें (क)इन्द्रियार्थसत्सम्प्रयोगवश प्रत्यक्ष ज्ञान होता है. (ख)कभी एक यथार्थज्ञान द्वारा दूसरे यथार्थज्ञानके उत्पन्न होनेपर अर्थात् ज्ञानकरणक ज्ञानके उत्पन्न होनेपर उसे अनुमितिरूप ज्ञान माना जाता है. (ग)सच्चिदानन्द ब्रह्म परमात्मा भगवान्में धर्म-धर्मिभावापन्न ज्ञानद्वैविध्यकी तरह उसके चिदंशरूप जीवात्मामें भी धर्म-धर्मिभावापन्न ज्ञान रहता ही है. अर्थात् चिदंशमें चैतन्यरूप धर्मतया भी प्रकाशाश्रय और प्रकाश की तरह उभयविध ज्ञान रहता है. यह धर्मभूत ज्ञान, कुसुमगन्धकी तरह स्वाश्रयाधिकदेशवर्तितया, जब मनोरूप अन्तःकरणमें वह्न्ययोगोलकन्यायेन प्रकट होता है तब नामात्मक सारे विकल्प वहां भाण्डागारसंचित निधिके तरह संगृहीत हो जाते हैं. नामके अनाविर्भूत होनेपर बाह्य शब्दों और विषयों के वशात् कोई नाम आविर्भूत हो जाता है और आविर्भूत ही होनेपर बाह्यशब्द-विषयोंद्वारा वे आविर्भूत नाम उद्दीप्त होते हैं. अतएव पदों और पदार्थों के बीच, अर्थात् नाम और रूप के बीच ज्ञानज्ञेयभावरूप, अर्थात् प्रत्यायक-प्रत्याय्यभावरूप सम्बन्धके नित्यसिद्ध होनेके कारण शाब्दबोधरूपा प्रमा भी प्रकट हो पाती है. इस तरहकी शाब्दबोधरूपा प्रमाका भी प्रामाण्य, अन्य प्रमाणोंके प्रामाण्यकी तरह यथायथ बोधाश्रय प्रमातामें न्यूनाधिक सत्त्वप्रवृद्धि या बोधोत्पादक वक्तामें आप्ततातिशय के विचारवश न्यूनाधिक होता है. यों सभी प्रमाणोंका प्रामाण्य भी न्यूनाधिक मानना पड़ता है. अभिमत प्रमाणोंके प्रामाण्य या अप्रामाण्य के स्वतः या परतः होनेके विवादमें वाल्लभ वेदान्त अर्धजरतीयन्यायका अनुसरण कर, कहीं स्वतः तो कहीं परतः मान्य रखता है. अतः किसी प्रमाणका अप्रामाण्यशंकास्पर्शरहित स्वतःप्रामाण्य,

किसी प्रमाणका अप्रामाण्याशंकाक्लिष्ट परतःप्रामाण्य, किसी प्रतिभास या निश्चय का प्रामाण्याशंकाक्लिष्ट परतो अप्रामाण्य और किसीका प्रामाण्याशंकाक्लेशविनिर्मुक्त स्वतो अप्रामाण्य स्वीकारा गया है. वाल्लभ वेदान्त श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराणादि शास्त्रोंके व्याख्यानार्थ प्रवृत्त दर्शन है, नकि तत्त्वोत्प्रेक्षार्थ प्रवृत्त दर्शन; अतः, शास्त्रविरुद्ध प्रत्यक्ष अनुमान या साधक-बाधक तर्कों का प्रामाण्य स्वीकारने वह उद्यत ही नहीं है. अतः इन प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका प्रामाण्य, शास्त्राविरुद्ध होनेपर ही, अर्थात् परतो ही अभिमत है.

स्मृतिरूप ज्ञानको प्रमारूप नहीं माना गया है, क्योंकि अर्थजन्य होनेके बजाय वह संस्कारमात्रजन्य होती है. अतः अर्थाभाववश याथार्थ्यके निश्चययार्थ वह सन्देहरहित ज्ञानरूपा नहीं होती. स्वाप तो, निरधिष्ठानक मिथ्या प्रतिभासरूप होनेसे, संशय विपर्यास प्रमा और स्मृति रूपा ज्ञानवृत्तिओंसे पृथक् बुद्धिवृत्तिरूप ही माना गया है. यह वाल्लभ वेदान्ताभिमत ज्ञानमीमांसाका संक्षेपमें स्वरूपनिर्देशन है. इसके बाद पश्चिमी दर्शनकी ज्ञानमीमांसाका संक्षिप्त स्वरूप भी निहार लेना प्रस्तुत प्रकरणमें उपादेय होगा.

(३)**पश्चिमी दर्शनमें ज्ञानमीमांसा :**

'पश्चिमी दर्शन' पदयुग्मका अभिप्राय विशेषतः यूरोपीय, और वैसे अमरीकी भी, दार्शनिक चिन्तनके अर्थमें लेना चाहिये. इनमें भी द्वितीयविश्वयुद्धोत्तर सर्वथा साम्प्रतिक चिन्तनकी जो अद्यतन धारा हैं, उनका विमर्श यहां अभिलषित नहीं है, क्योंकि उनका भलीभांति अध्ययन ही प्रस्तुत लेखक कर नहीं पाया है.

यूरोपीय ज्ञानमीमांसकीय चिन्तनका विकास सॉल्-बॉडी, आइडिया-थिंग्, माइंड्-मेटर्, गॉड्-वर्ल्ड्, थोट्-एक्स्टेंशन्, सब्जेक्ट्-ऑब्जेक्ट्, कन्सेप्ट्-पर्सेप्ट्, सेंसेशन्-सेंस्डेटा, बॉडीविद्ब्रेन-सेंसरीस्टीम्युलस् रूपी द्वैतोंके

अनेकानेक पड़ावोंपर रुक-रुक कर आगे बढ़ते हुवे अब हार्डवेरचिप्स्-सॉफ्टवेर्प्रॉग्राम्के विकासके बाद आर्टिफिशियल इंटलिजेंसकी तरफ अग्रसर होता चिन्तन है! फिरभी इन झीने विचारसूत्रोंको परस्पर बट कर एक मोटी रस्सी बनानी हो तो, जॉह्न होस्पर्स्के शब्दोंमें, यह कहा जा सकता है कि "**ज्ञानमीमांसा मानवीय ज्ञानके स्रोत, स्वभाव, और जो भी या जितने भी उसके प्रकार सम्भव हों उनकी मीमांसा है**".

अपने 'दार्शनिक विश्लेषणका परिचय' (An Introduction to Philosophical Analysis) नामक ग्रन्थमें जॉह्न होस्पर्स्ने (क)प्रत्यय (Concepts) (ख)तथ्य (Truth) (ग)ज्ञानस्रोत (The Sources of Knowledge) (घ)ज्ञानस्वरूप (What is Knowledge ?) (ङ)विश्लेषणात्मक तथ्य और यौक्तिक सम्भावना (Analytic Truth and Logical Possibility) (च)अनुभूतिपूर्वभा-विधारणा या अनुभवातीतधारणा (और इसी तरह अनुभवोत्तरधारणा) (The A Priori—and A Posteriori—) (छ)तर्कशास्त्रके नियम (Principles of Logic) (ज)अनुभूतिजन्य ज्ञानके नियम, वाद और विवरण (Empirical Knowledge: Law, Theory and Explanation) (झ)व्याप्तिनिश्चय या उपनयात्मक अनुमान की समस्या (The Problem of Induction) (ञ)प्रामाण्यावधारण और शब्दार्थमीमांसा (Testability and Meaning) यों ज्ञानमीमांसामें इन विषयोंका प्रमुखतया संकलन विचार्यविषयके रूपमें किया है.[१२]

इस विषयसंकलनाके अन्तर्गत जैसा कि हमने देखा सर्वप्रथम (क)प्रत्ययको केवल किसी विषयकी मानसी मूर्तिसे पृथक् समझ लेना आवश्यक माना है, क्योंकि, जैसा कि जॉह्न होस्पर्स्का कहना है, मानसी मूर्ति तो जो कुछ हमने देखा-सुना होता है, उसके आधारपर हम घड़ते होते हैं परन्तु प्रत्ययका ऐसा अनुभूतिघटित होना अनिवार्य नहीं होता. पराबैंगनी रंग हम मनुष्योंको अपने नेत्रोंसे दिखलायी नहीं देता,

मधुमक्खीको दिखलायी देता होनेके बावजूद, परन्तु भौतिकीके किन्हीं विद्वानोंके बीच पराबैंगनी रंगके किसी मूर्त द्रव्यकी बात सुन कर उसका प्रत्यय तो हमारे मनमें भी उभर ही जाता है. इस प्रत्ययको प्राचीन यूनानी चिन्तकोंने भी आइडियाके रूपमें निहार कर न केवल ज्ञानमीमांसा परन्तु भ्रान्तिके स्वरूपोंकी भी पर्याप्त विवेचना की ही थी. इस तरह जॉह्न होस्पर्स्के द्वारा चर्चित विषयोंके आधारपर ही भारतीय दर्शनमें प्रयुक्त शब्दावली और मानकों के द्वारा उन विषयोंकी विवेचना भ्रान्तिके बारेमें पश्चिमी चिन्तनके विकासकी रूपरेखाको देखनेमें उपकारक होगी.

अतः प्रत्यय, आइडिया या कन्सेप्ट, हमारे भीतर स्वतःसिद्ध होते हैं या ऐन्द्रियक अनुभवोंके कारण प्रकट होते हैं? मनुष्यको अपने इन प्रत्ययोंका प्रामाण्य अधिक मानना चाहिये अथवा इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोंका प्रामाण्य अधिक स्वीकारना चाहिये? दोनोंमेंसे कौन निर्भ्रान्तज्ञान प्रदान करता है, क्योंकि इसीके आधारपर अवशिष्टको भ्रान्ति या अपूर्णज्ञानके प्रदायक होनेके रूपमें स्वीकारना पड़ेगा. कौनसे प्रत्ययका किस दूसरे प्रत्ययमें अन्तर्भाव या किससे विरोध होता है, इसे भलीभांति न समझनेपर भी प्रमाके बजाय भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है. प्रत्ययोंमें कुछ रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दादिसे सम्बन्धित प्रत्यय बाह्येन्द्रियजन्य होते हैं तो कुछ सुख-दुःख-ईर्ष्या-मान-मदादिसे सम्बन्धित प्रत्यय अन्तःकरणजन्य होते हैं. कुछ निरपेक्ष प्रत्यय प्रत्ययान्तरसे अघटित तो अन्य कुछ सापेक्ष प्रत्यय प्रत्ययान्तरसे घटित होते हैं. प्रत्ययान्तरघटित प्रत्ययोंमें सम्बन्धोंके प्रत्यय, सम्बन्धिओंके प्रत्यय होते हैं. अनुभवातीत विषयोंके प्रत्यय, उदाहरणतया, पारमाण्विकी संरचना, सुदूर नक्षत्र-तारागणोंका संस्थान, परमेश्वर, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक आदिके प्रत्यय हमारे भीतर अनेकविध बोधोंके घटक होते हैं. कुछ अनुभवविरुद्ध प्रत्यय 'वन्ध्यापुत्र' 'शशशृंग' जैसे भी विकल्पवृत्तिजन्य बोधके रूपमें सोचे जा सकते हैं. वर्तुल-चतुष्कोण जैसे स्वतोव्याहत अथवा 'राहोः शिरः' जैसे विकल्पवृत्तिगोचर प्रत्यय

भी सोचे जा सकते हैं.

(ख)इन अनेकविध प्रत्ययोंकी यथार्थता या अयथार्थता का निर्धारण कैसे करना? प्रत्ययोंकी यथार्थताके निर्धारणार्थ विषयसे अविसंवाद, प्रत्ययोंमें परस्पर अविसंवाद, प्रत्ययजन्यप्रवृत्ति और उससे मिलते फलका परस्पर अविसंवाद आदि निकष स्वीकारे गये हैं. इन निकषोंको देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि यथार्थताके अन्यतम या सभी निकषोंपर खरे न उतरनेवाले प्रत्ययोंको प्रमाप्रत्यय माननेके बजाय भ्रान्तिप्रत्ययतया स्वीकारना आवश्यक होगा ही.

(ग)प्रत्ययोत्पत्तिके स्रोततया १.इन्द्रियजन्य साक्षाद् ज्ञान, २.तर्क, अर्थाद् व्याप्य प्रत्ययके आधारपर व्यापक प्रत्ययका निगमनानुमानिक प्रत्यय, दो प्रत्ययोंके बीच व्याप्य-व्यापकभावका उपनयानुमानिक प्रत्यय, ३.आप्तोपदेशजन्य प्रत्यय, ४.अन्तःस्फुरणाजन्य प्रत्यय और ५.श्रद्धाजन्य प्रत्ययोंके प्रभेद होते हैं. इन सभीके प्राकट्य और प्रामाण्य का विचार करना भी पश्चिमी ज्ञानमीमांसाका प्रमुख विचार्यविषय रहा है. अतः इस पहलुमें भी प्रमा और भ्रान्ति उभयविध ज्ञानोंका वहां आवश्यकतया विवेचन हुवा ही है.

(घ)ज्ञानके स्वरूपके विचारमें निःसन्देह ज्ञान और ससन्देह ज्ञान, सोपपत्तिक सन्देहसंवलित ज्ञान और निरुपपत्तिक सन्देहरहित ज्ञान आदिके प्रभेदोंकी भी पर्याप्त मीमांसा पश्चिमी जगत्में हुयी है. हम देख सकते हैं कि इस पृथक्करणका भी प्रमा और भ्रान्ति रूप ज्ञानके उभयविध प्रकारोंसे गहरा सम्बन्ध रहता ही है.

(ङ)तथ्यज्ञानमें विषयीभूत विषयता और प्रकारता के सम्बन्ध, उसके बोधक विधानमें प्रकट होते उद्देश्यता और विधेयता के सम्बन्ध; अथवा, अनुमितिमें पक्षता और साध्यता के सम्बन्धके भी दो प्रभेद सम्भव

हैं : विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक. विश्लेषणात्मक यथा ''४ = २+२'' अथवा ''भाई या तो अग्रज होता है या अनुज'' ऐसे बोधोंमें विषय, उद्देश्य या पक्ष का जो स्वरूप होता है उसके साकल्येन बोधमें ही प्रकार, विधेय या साध्य का भी बोध नियततया हो ही जाता है. अतः ऐसा बोध विश्लेषणात्मक माना जाता है. इसी तरह संश्लेषणात्मक ''हिमका वर्ण श्वेत होता है'' या ''कुछ अश्व कृष्णवर्णी होते हैं'' जैसे बोधोंमें विषय, उद्देश्य या पक्ष के बोधमें प्रकार, विधेय या साध्य का बोध नियततया नहीं हो पाता अतः ऐसे बोधको संश्लेषणात्मक बोध माना जाता है. संश्लेषणात्मक बोधमें विषयता-प्रकारता उद्देश्यता-विधेयता अथवा पक्षता-साध्यता के यथार्थ होनेकी पुनः तीन सम्भावनाएं प्रतिपादित हुयी हैं : तर्कदृष्ट्या सम्भव या असम्भव, साक्षाद् अनुभूतिकी दृष्ट्या सम्भव या असम्भव; अथवा व्यवहारदृष्ट्या सम्भव या असम्भव. इनका यथोचित विवेक करने या न करनेपर, बोधके प्रमा या भ्रान्ति रूपमें प्रकट होनेकी सम्भावना पूर्णतया निर्भर रहती है.

(च)अनुभूतिपूर्वभाविधारणा या अनुभवातीतधारणा और इसी तरह अनुभवोत्तरधारणा (The A Priori and A Posteriori) धारणाओंके इस ऐसे प्रभेदके भलीभांति विवेक रखने या न रखने के कारण हमारा बोध भी प्रमा या भ्रान्ति के रूपमें अनियततया प्रकट हो सकता है. अनुभवपूर्वभाविधारणाओंमें प्रकट होता सत्य नियततया सत्य होता है, जबकि अनुभवोत्तरधारणाओंमें प्रकट होता सत्य नियत सत्य नहीं माना गया है. इन्हें पूर्वनिरूपित विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक प्रत्ययोंसे द्विगुणित करनेपर चार प्रकार प्रकट होते हैं : १.अनुभवपूर्वभावि-विश्लेषणात्मक धारणा २.अनुभवपूर्वभावि-संश्लेषणात्मक धारणा ३.अनुभवोत्तर-विश्लेषणात्मक धारणा और ४.अनुभवोत्तर-संश्लेषणात्मक धारणा. इनमें कैसी धारणा सम्भव और कैसी सम्भव नहीं इसका विवेचन भलीभांति होने या न होने पर भी किसी बोधका प्रमा या भ्रान्ति होना निर्भर होता है.

(छ)तर्कशास्त्रके आधारभूत नियम तीन तरहके पश्चिमी चिन्तनमें स्वीकारे गये हैं : १.अभेदनियम उदाहरणतया ''घटो घटः'', २.अव्याघातनियम उदाहरणतया ''घटरूपता और अघटरूपता का एकत्र धर्मीमें सम्भव न होना, ३.मध्यभावासम्भवतानियम उदाहरणतया ''प्रत्येक वस्तु या तो घटरूप होती है या अघटरूप''. इन पूर्वकल्पित तीन नियमोंके आधारपर परवर्ती चिन्तनमें सात नियम घड़ लिये गये : Law of Independence निर्व्याप्तिकतानियम, उदा.,''घटः श्वेतः'', २.Law of Equivalence समव्याप्तिकतानियम, उदा.,''अभिधेयः प्रमेयः'', ३.Law of Super implication प्रसाधकतानियम, उदा.,''अश्वः पशुः'', ४.Law of Sub implication उपसाधकतानियम, उदा.,''पशुः अश्वः'', ५.Law of of Sub contrarity उपव्याघात/परस्पराभावव्यापकताका नियम, उदा., ''कश्चन पशुः अश्वः''-''कश्चन पशुः न अश्वः'', ६.Law of Contrarity परस्पराभावव्याप्यतानियम, उदा.,'' 'इह घटोस्तिः'-'इह घटो नास्ति' ''/'' 'यत्र धूमः तत्र वह्निः'-'यत्र धूमः तत्र वह्न्यभावः' '', ७.Law of Contradiction परस्पराभावरूपतानियम, उदा.,'' 'घटो' — 'न घटः' '.'[१३]

(ज)नियम, वाद और विवरण के विचारके अन्तर्गत यह कहा जाता है कि अनुभूतिजन्य ज्ञानके नियम सिद्धार्थबोधक वचनोंमें प्रयुक्त होते हैं नकि साध्यार्थबोधक वचनोंमें. क्योंकि ये बाह्य जगत्के नियत व्यवहारके निरीक्षणपर अवलम्बित होनेवाले ''एतत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्'' रूप व्याप्तिघटित नियम होते हैं. नियम और वाद के बीच यही अन्तर होता है कि नियम असकृत् निरीक्षणोंद्वारा अधिगत होते हैं तथा वाद निरीक्षित तथ्यके व्याख्यानार्थ सोचे गये नियम होते हैं, ऐसे कि जिनका निरीक्षित होना आवश्यक नहीं होता. वादका प्रामाण्य इस बातपर अवलम्बित होता है कि वह कितने दृष्टादृष्ट तथ्योंके सुसंगत विवरणप्रदानार्थ हमें सक्षम बनाता है.

(झ)दो वस्तु या प्रत्ययों के बीच व्याप्तिनियमको निर्धारित करनेमें

समस्या यही खड़ी होती है कि एक या एकाधिक उदाहरणोंमें साहचर्यके दर्शनके आधारपर व्याप्तिनियम कैसे समझमें आता है और उसका प्रामाण्य कैसे निर्धारित करना ?

(ञ)किसी भी नियम, वाद अथवा विवरण का प्रामाण्य उसके उपलब्ध यावद् उदाहरणोंमें उन नियम, वाद या विवरण के उपपन्न या संगत होनेपर सिद्ध होता है.

ज्ञानमीमांसाका यह स्वरूप यूनानी चिन्तनसे आधुनिक चिन्तन तकके सुदीर्घ कालमें उत्तरोत्तर विकसित हुवा है, सहसा नहीं. फिरभी इन ज्ञानमीमांसाके सामान्य विषयोंके स्वरूपसे थोड़ा-बहोत परिचित हुवे बिना भ्रान्तिके बारेमें विविध नियमों, वादों और विवरणों से भलीभांति परिचित हुवा नहीं जा सकता. अतः इसके विहंगावलोकनके बाद सुखेन यूरोपीय दर्शनेतिहासमें भ्रान्तिकी विविध व्याख्याओंके विकासका वाल्लभ वेदान्ताभिमत व्याख्याके साथ तुलनात्मक विमर्शार्थ अग्रसर हुवा जा सकता है.

(४)**प्राचीन यूनानी चिन्तन :**

१.थेल्स आदि चिन्तकत्रयी : यूनानी दार्शनिक चिन्तनका पिता **थेल्स** (ई.पू.६२४-५५४)को माना जाता है. थेल्ससे प्रारम्भ कर प्लातो तकके प्रायः सभी दार्शनिकोंके चिन्तनकी तरह आगे होनेवाले चिन्तकोंके भी मतोंका निरूपण प्रमुखतया *एस्.ई.फ्रॉस्ट्* द्वारा लिखित 'द बेज़िक् टीचिंग्स् ऑफ् द ग्रेट् फिलोसोफर्स्' ग्रन्थके आधारपर यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं. वैसे आवश्यकताके अनुसार अन्य ग्रन्थोंको भी आधार बनाना तो पड़ेगा. अस्तु. यह यूनानके माईलेती सम्प्रदायके चिन्तकोंमें आद्य दार्शनिक होनेके रूपमें विख्यात है. थेल्स प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्ति जलसे मानता था.[१४]

वैसे इस बातका अब कोई उल्लेख तो उपलब्ध नहीं होता परन्तु अपने दार्शनिक प्रतिपादनमें सर्वोपादानतया जलको स्वीकारनेके कारण तथा वैसे जलत्वके सर्वत्र अनुभूत न होनेकी उपपत्ति थेल्सको या तो रामानुज-वाल्लभाभिमत अख्याति या माध्वाभिमत असदन्यथाख्याति अथवा वाल्लभाभिमत अन्यख्याति जैसे किसी एक वादके आधारपर ही देनी पड़ती होंगी. यहां अवधेय हो जाता है कि सर्वकारणतया जलतत्त्वके एकत्वका अख्यान और जलेतर अनेकानेक तत्त्वोंमें अजलरूपताका ख्यान या तो उसे अन्यथाख्यान मानना पड़ता होगा अथवा स्वयं जलमें प्रकट विविध रूपोंके पारमार्थिक होनेके आशयवश उसे वाल्लभ वेदान्तकी ही तरह एक जलरूप कारणमें प्रकट अन्यके ख्यानरूप अन्यख्यातिकी उपपत्ति ही देनी पड़ती होगी. प्रत्यक्षगोचरीभूत अनेक जलकार्यभूत रूपोंमें एकमात्र स्वोपादानभूत जलके तादात्म्य या अद्वैत के अख्यानवश सर्वकार्यानुगत द्वैतके प्रतिभासको तब आत्मख्याति असत्ख्याति या सदसदनिर्वचनीयख्याति के रूपमें निहारनेके वैचारिक मोड़ तक यूनानी चिन्तनयात्रा पंहुच ही नहीं पायी थी.

थेल्सके बाद इसी सम्प्रदायमें दूसरा दार्शनिक **एनेक्सिमेंदर** (ई.पू.६१२-५४५) हुवा. उसके चिन्तनमें तो वाल्लभ वेदान्तको अभिमत कई प्रमुख बातें अतीव स्फुट रूपमें उभर कर सामने आती हैं. यथा सभी वस्तुओंका किसी एक मूल तत्त्वमेंसे प्रादुर्भाव होना और उस तत्त्वका स्वरूप ऐसा होना चाहिये कि जो जलकी तरह अनुभूयमान पारस्परिक वस्तुपरिच्छेदसे ग्रस्त न हो. एनेक्सिमेंदर उस तत्त्वको अनन्त शाश्वत और अपरिच्छिन्न या सर्वव्यापी भी स्वीकारता था, वाल्लभ ब्रह्मके जैसा. वाल्लभ वेदान्तकी ही तरह हमारे अनुभूयमान ब्रह्माण्डके अलावा अन्यभी अनेकानेक अननुभूयमान ब्रह्माण्डोंमें वह उसे व्याप्त मानता था. उस परम पदार्थसे ही अन्य सारे पदार्थोंकी परिणति उसे मान्य थी. उसके अनुसार पृथ्वी जल वायु अथवा तेज आदिमेंसे तेज यदि मूल पदार्थ होता तो तेजके कारण सब कुछ जल कर

राख बन जाना जाहिये था. वायु होता तो सब कुछ वायुसदृश और जल होता सब कुछ जलकी तरह पिघला हुवा और पृथ्वी होती तो सब कुछ उसकी तरह ठोस होना चाहिये था. अतः मूल पदार्थको वह इन सभी विरुद्ध रूपोंसे अतीत परन्तु इन सभी रूपोंका प्राकट्यकारी विरुद्धधर्माश्रय मानता था. एतावता यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि भ्रान्तिकी व्याख्यामें उसे भी या तो वाल्लभमताभिमत अख्याति या अन्यख्याति का ही सहारा लेना पड़ता होगा.[१५]

एनेक्सिमेंदरके बाद इस सम्प्रदायका अन्तिम दार्शनिक **एनेक्सिमॅनिज** (ई.-पू.६२४-५४५) आया. उसने विशेष कुछ प्रतिपादन करनेके बजाय पुनः वायुसे ही सब कुछ उत्पन्न होनेके वादपर भार दिया. वायुके विभिन्न अनुपातोंमें होते घनीभावके आधारपर वह सारे पदार्थोंके रूप-गुण-धर्मोंके भेदोंकी व्याख्या करना चाहता था.[१६]

जहां तक भ्रान्तिकी क्या व्याख्या वह प्रस्तुत करता होगा ऐसी जिज्ञासाका प्रश्न है तो इस बारेमें पूर्वोक्त दार्शनिकोंसे उसकी व्याख्या भिन्न होगी ऐसा सोच पानेका कोई सुराग तो मिलता नहीं है.

२.पाइथेगोरिक सम्प्रदाय : पूर्वोक्त चिन्तकत्रयी जैसे जगत्के मूल तत्त्वके अन्वेषणमें प्रवृत्त हुयी वैसे ही **पाइथेगोरस** (ई.पू.५७०-४९५) और उसके अनुगामी जागतिक पदार्थोंके वैविध्य और उनके बीच परस्पर सम्बन्धोंके अन्वेषणमें अधिक रुचि रखनेवाले चिन्तक हुवे. इस विषयमें उन्हें यह विचार कोंधा कि जैसे किसी वीणामें उसके तारकी लंबाई और कसाव के भेदके कारण एक ही तार अनेक स्वरश्रुति प्रकट करता है, ऐसे जगत्की समग्र विविधता किसी एक ही तत्त्वकी विभिन्न संख्याओंमें संयोजनाके वश प्रकट होती होनी चाहिये. अतः इन्होंने संख्याको ही जगत्के मूलतत्त्वतया मान्य किया. सृष्टिमें अनुभूयमान निखिल परिवर्तनमें संख्याओंकी विभिन्नता ही कारण है.[१७]

यों परिवर्तनकी दिशामें चिन्तनके अग्रसर होनेपर **हेरक्लाइतेस्** (ई.पू.५००-४७५)को लगा कि प्रतिक्षण परिवर्तित होनेवाली अग्निज्वाला इसका प्रमाण है कि जगत्का मूल उपादान कारण तत्त्व अग्नि या तैजस पदार्थ है. अतः परिवर्तनशीलता तो तथ्य है और अतएव जगत्मे स्थिरताकी प्रतीति भ्रान्ति है. हेरक्लाइतेस् इन्द्रियजन्य ज्ञानके बजाय तर्कको अधिक संदेहरहित ज्ञानका हेतु मानता था[१८] अतः स्पष्ट होता है कि यहां आ कर इन्द्रियग्राह्य परिवर्तनको प्रत्यक्ष प्रमाके विषयतया, स्थिरताके प्रतिभासको भ्रान्तिके विषयतया और जगत्के मूलमें किसी अपरिवर्तनशील पदार्थका प्रत्यय एक भ्रमपूर्ण परोक्ष प्रत्ययतया स्वीकार लिया गया होगा ही. हेरक्लाइतेस्की प्रसिद्ध उक्ति **''कोई भी व्यक्ति एक ही नदीमें दो बार पैर नहीं डाल सकता, क्योंकि एक बार डाल कर निकालनेके बाद दूसरी बार पुनः पैर डालते समय तक वही जलराशि वहां स्थिर नहीं रहती प्रवाहनैरन्तर्यवशात्''** अतः अपरिवर्तनशीलता या स्थिरता को अब भ्रान्तियुक्त प्रतिभास या अध्यवसाय अथवा दोनों ही माना जाने लगा था.[१९]

यूनानी चिन्तनयात्राके यहां इस मोड़पर पहुंचनेपर, सर्वांशमें न्यायप्रक्रियाभिमत न सही फिरभी, कुछ न कुछ माध्वाभिमत अन्यथाख्यातिवादको या असत्ख्यातिवादको अवकाश मिलता सोचा ही जा सकता है.

३.एलियाइ सम्प्रदायकी चिन्तकत्रयी : इस सम्प्रदायके दार्शनिकोंमें **ज़ेनॉफेनस्** (ई.पू.५७०-४७५)के अनुसार जगत् किसी ठोस अपरिणामी एवं अविचल द्रव्यसे निर्मित हुवा है. इसके अंशोंमें तो परिवर्तन सम्भव हो सकता है परन्तु अंशीमें वह सम्भव नहीं. इस अपरिणामी कूटस्थ द्रव्यको शांकर वेदान्ताभिमत निर्विशेषके समान मान लेनेकी धांधल नहीं करनी चाहिये. क्योंकि न केवल परमेश्वरके पुरुषोत्तमाकृति होनेके बारेमें प्रसिद्ध उपहास कि **''बैल, घोड़े या सिंह आदि यदि मानवसदृश**

मूर्तिनिर्माणक्षम हाथोंवाले होते तो उनके द्वारा निर्मित परमेश्वरमूर्ति वृषभोत्तम अश्वोत्तम या सिंहोत्तम जैसी ही होती!'' प्रत्युत समग्र पौराणिक एवं आध्यात्मिक प्रत्ययोंको ज़ेनॉफेनस् कल्पनाविलास ही मानते थे.[२०]

पार्मेनाइदिस् (ई.पू.५१५-४४५)का विचार ऐसा था कि कोई यदि परिवर्तनको तथ्यतया मान्य करता है तो उसे असत्से सत्की उत्पत्ति भी स्वीकारनी पड़ेगी. अतः नेत्रोंसे अनुभूयमान परिवर्तन मिथ्या प्रतिभासके अलावा कुछ नहीं होते.[२१]

ज़ेनो (ई.पू.४५०)ने एतदर्थ ऐसी युक्तियां और अधिक भी दी कि गतिप्रत्यक्ष ही युक्तिबाधित सिद्ध हो जाये. यथा प्रत्येक वस्तु उतने ही देशमें अवस्थित होती है कि जितनी वह स्वयं हो. किसी वस्तुके गतिशील होनेका अर्थ होता है स्वाधिकरणाधिकदेशवर्तिता जो युक्तिसंगत नहीं. अतः गतिप्रतिभास एक भ्रान्ति ही है.[२२]

स्पष्ट है कि वाल्लभ वेदान्तको अभिमत मूल उपादान कारणके सुवर्णकुण्डलन्यायेन अविकृत परिणामी होनेकी धारणाके साथ ज़ेनॉफेनस् कितना सहमत होगा कह पाना मुश्किल है. फिरभी अंशीको सर्वांशमें अपरिणामी माननेके साथ-साथ अंशोंमें परिणामशीलताको सम्भव मानना किसी तरहके विरुद्धधर्माश्रयताकी स्वीकृतिकी गवाही तो देता ही है. अतः परिवर्तनके प्रतिभासको अन्यख्यातिरूप भ्रान्ति माननेके बजाय अंशीकी अपरिवर्तनशीलताकी अख्याति मानना उसके मतमें अधिक सम्भव उपपत्ति लगती है. रही बात आधिदैविक प्रत्यय यथा पुरुषोत्तमाकार-परमेश्वरके उपहासकी तो वाल्लभ वेदान्तको इसमें विचलित होने जैसा कुछ भी नहीं लग सकता है. क्योंकि मीन-कच्छप-वाराह आदि अनेक अवतारोंमें भगवान्की पुरुषेतराकारता भी वाल्लभ वेदान्तको स्वीकार्य है ही. इतना ही नहीं प्रत्युत **''यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय''**[२३] वचनके आधारपर मानवीय भक्तिभावोंके

अनुरूप वास्तविक स्वरूपधारण कर पानेकी परमेश्वरकी सामर्थ्यके सिद्धान्तके आधारपर भी परमेश्वरके आधिदैविकाकारके प्रत्ययोंको मिथ्या मोहकल्पित या मायाकल्पित ही मानना वाल्लभ वेदान्तको आवश्यक नहीं लगता. सृष्टिमें प्रकट सारेके सारे आधिभौतिक नाम-रूप-कर्म सच्चिदानन्द ब्रह्मके द्वारा जब विधृत हैं तो आधिदैविक नाम-रूप-कर्मोंके विधारणमें उसे अधिक कौन सा भार पड़ सकता है? अतः इस तरहके प्रत्ययोंको अन्यख्यातिरूप नहीं माना जा सकता. पार्मेनाइदिस्को जो असत्से सत्की उत्पत्ति अनुपपन्न लगती थी वह तो वाल्लभ वेदान्तको भी अभीष्ट है. प्रत्येक परिवर्तन, परन्तु, असत्कार्यवाद या असत्कारणवाद के बिना स्वीकार्य नहीं हो पाता ऐसा वाल्लभ वेदान्तको मान्य नहीं, अविकृतपरिणामवाद और आविर्भाव-तिरोभाववाद की प्रक्रियाके अंगीकारवश. अतः परिवर्तनके प्रत्ययके मिथ्या प्रतिभास होनेकी धारणा वाल्लभ वेदान्तको स्वीकार्य नहीं. जहां तक गतिप्रतिभासको युक्तिविरुद्ध होनेके कारण मिथ्या माननेकी बात है, वहां वाल्लभ वेदान्त यह कहना चाहेगा कि स्वयं यह युक्ति ही प्रत्यक्षविरुद्ध होनेसे बाधित है. अतः तज्जन्य स्थैर्यप्रत्यय भी एक परोक्ष भ्रमपूर्ण प्रत्यय है. एतावता गतिप्रतिभासको अन्यख्यातिके उदाहरणतया माना नहीं जा सकता. देश-काल-वस्तुदृष्ट्या अपरिच्छिन्न अंशीमें स्वभावसिद्ध आविर्भाव-तिरोभावशक्तिद्वारा निज अंशोंमें त्रिविध द्विविध या अन्यतम प्रकारका परिच्छेद प्रकट हो सकता है.

४.परमाणुवादी चिन्तकचतुष्टयी : यूरोपीय चिन्तनमें परमाणुवादके प्रवर्तक **एम्पिदक्लिज़्** (ई.पू.४९५-४३५), **एनेक्साइगरस्** (ई.पू.५००-४२८), **लिजुकीपस्** (ई.पू.४५०-४२०) और **दिमॉक्रितेस्** (ई.पू.४६०-३७१) बहोत उल्लेखनीय नाम हैं.

पूर्ववर्णित एलियाइ चिन्तकोंके मतमें मौलिक तत्त्व अपरिवर्तनशील था. इसके विपरीत हेरक्लाइतेस्के मतमें नित्य परिवर्तनशीलता मान्य थी. इन दोनों परस्पर विरुद्ध धारणाओंको समन्वित करनेको सृष्टरूपोंके

परिवर्तनशील होनेकी धारणाके आधारपर **एम्पिदक्लिज़्**ने सर्वप्रथम पृथ्वी जल तेज और वायु के अपरिवर्तनशील परमाणुओंसे परिवर्तनशील संघातकी उत्पत्तिकी मान्यता प्रस्तुत की. यों समग्र जगत्की विविधताके प्राकट्यका हेतु खोजना चाहा. उसके अनुसार वस्तुकी विपरिणति स्वसंघातघटक परमाणुओंके विभाजनवश होती है और नयी वस्तुकी उत्पत्ति उन्हीं परमाणुओंके नये सिरेसे संघातघटनद्वारा होती है. इस संयोग-विभागके हेतुतया वह परमाणुओंमें राग-द्वेषात्मिका शक्तियां स्वीकारता था. जलपरमाणुओंके चक्षुसंयोगवश जलप्रत्यक्ष होता है. इसी तरह विश्वप्रत्यक्ष भी विश्वघटक परमाणुओंके साथ इन्द्रियसंयोगवश सम्भव हो पाता है.[२४]

एनक्साइगरस्, परन्तु, भूतचतुष्टयीके वर्गोंमें ही परमाणुओंके प्रकारोंको सीमित माननेके बजाय असंख्य द्रव्योंके असंख्य प्रकारके परमाणुओंको स्वीकारनेकी बात करता है. इनके परस्पर संयुक्त और विभक्त होनेके हेतुतया भी स्वयं उनमें रही राग-द्वेषात्मिका शक्तिओंके बजाय ब्रह्माण्डका स्वयंका परिभ्रमणशील होना कारणतया स्वीकारता था.

इससे भी आगे बढ़ कर परिभ्रमणशील समष्टिब्रह्माण्डकी गतिसे व्यष्टि पदार्थोंके गतिशील होनेकी कल्पना करनेके बजाय स्वयंकी स्वाभाविकी आन्तरिक गतिसे परमाणुओंको गतिशील मान कर **लिज़ुकीपस्** और **दिमॉक्रितेस्** ने यान्त्रिक परमाणुवाद और आरम्भवाद के भवनको उस समय ही पूर्णता प्रदान कर देनेका उपक्रम किया था. पाइथेगरस्के संख्याके मूलतत्त्व होनेकी धारणाके साथ भी संगति बैठाते हुवे इन्होंने परमाणुओंकी संख्याके प्रभेदवश इनके कार्यभूत संघातोंके रूपभेदको भी यथार्थतया मान्य किया था.[२५] साथ ही साथ दिमॉक्रितस् इन्द्रियजन्य ज्ञानको अस्पष्ट और तर्कजन्य ज्ञानका प्रामाण्य अधिक स्वीकारता था.[२६]

इन्हें बहुधा यूरोपके नैयायिक-वैशेषिक माना जाता है परन्तु

इनके परमाणु संयुक्त होनेके लिये निमित्त कारण या कर्ता की अपेक्षा नहीं रखते. अतएव स्वनिष्ठ स्वाभाविक गतिशीलताके कारण संयुक्त और वियुक्त होते इनके परमाणु श्रमणपरम्परागत जैनोंके पुद्गल या आधुनिक विज्ञानके परमाणुओं के अधिक करीब हैं बजाय कि ब्राह्मणपरम्परामें अभ्युपगत परमाणुओंके. फिरभी असत्ख्याति आत्मख्याति सदसदनिर्वचनीय-ख्यातिके बजाय इन यूरोपीय परमाणुवादिओंको विपरीतख्याति या माध्वाभिमत अन्यथाख्याति अधिक अनुकूल लगती होगी, ऐसा सोचनेमें कोई आपत्ति नहीं. वैसे प्रत्येक भ्रान्तिके उदाहरणमें, एक तो, अधिष्ठानके वास्तविक स्वरूपका अज्ञान या अप्रतिभास; और दूसरे, अधिष्ठान या आरोप्यमाण विषयमेंसे किसी एकका अन्यथाप्रतिभास या अन्यथाध्यवसाय हेतु बनते हैं. वाल्लभ वेदान्तको भी इतना तो मान्य ही होनेसे, साथ ही साथ अन्यथात्वके अन्यत्वसापेक्ष होनेके कारण भी, यदि कोई आरम्भवादी (अर्थात् असत्कार्यवादी-असत्कारणवादी) अख्यातिवादपूर्वक अन्यख्यातिवादके रूपमें भ्रमज्ञानको स्वीकारना चाहता हो तो कोई बड़ा विरोधाभास खड़ा नहीं हो जाता. न्यायाभिमत अन्यथाख्यातिके भी प्रकारमें, असत्ख्यातिवादकी स्वीकृतिसे केवल बचनेके लिये अधिष्ठानके सदृश आरोप्यके स्मरणवशात् स्वयं अधिष्ठानका अन्यथाज्ञान माननेके बजाय, अन्यदेशावस्थित आरोप्यका, स्मरणरूपा ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिद्वारा, इन्द्रियसंयोग मान्य कर एतद्देशावस्थिततया अन्यथाभान मान लिया गया. यह अतीव क्लिष्टकल्पना नैयायिकोंको करनी पड़ी है. क्योंकि अन्यथा अधिष्ठानका स्वसदृश आरोप्यविषयत्वेन अन्यथाप्रतिभास सुखेन ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिद्वारा भी उपपन्न हो ही सकता था. "**तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रमः**" [२७] परिभाषाके अनुसार भ्रम "रजतत्वाभावति रजतत्वप्रकारक" ज्ञान है अथवा "पुरोवर्तित्वाभाववति रजते पुरोवर्तित्वप्रकारक" ज्ञान है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता है. अतः आवश्यक नहीं लगता कि इतनी ही क्लिष्टकल्पना यूनानिओंको भी करनी ही पड़ी हो!

५.सोक्रेतिज़् प्लातो और अरिस्तोतल् : दार्शनिक चिन्तन और

चर्चा में द्रव्योपार्जनार्थ किसी भी मतकी श्रद्धाहीन बौद्धिक वक़ालत करनेवाले सोफिस्टोंके वैतण्डिक कोलाहलसे गूँजते यूनानमें दार्शनिक चिन्तनके प्रति श्रद्धा जगानेवाला कोई महामानव यदि जनमा तो उसे भारतीय केनोपनिषद्के **''यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद स, अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातम् अविजानतां, प्रतिबोधविदितं मतम् अमृतत्वं हि विन्दते, आत्मना विन्दते वीर्यं, विद्यया विन्दते अमृतम्''** [२८] मन्त्रके भाष्यके जैसा जीवन जीनेवाले **सोक्रेतिस्**(ई.पू.४६९-३९९)के रूपमें पहचाना जा सकता है!

इसी तरह श्रीमद्भागवतोपदिष्ट आदर्श कि मृत्युको एक दीर्घकालीन निद्राकी तरह सहज भी स्वीकारा जा सकता है, इसका भी सोक्रेतिस् एक प्रमुख अन्यतम उदाहरण है. वह उपदेश या उत्तर नहीं देता था परन्तु जिज्ञासा और पर्यनुयोग ऐसे कर देता था कि शनैः-शनैः उसके मनमें रही बात दूसरा कब बोलने लग जाता, यह स्वयं बोलनेवालेको भी पता ही नहीं चलने देता था. डब्ल्यु.टी.स्टेस् अपने 'यूनानी दर्शनका आलोचनात्मक इतिहास' नामक ग्रन्थमें सोक्रेतिज़्के बारेमें एक मननीय विधान करते हैं **''वह अपने अज्ञानशस्त्रका (जिज्ञासा और पर्यनुयोगों द्वारा) पण्डितम्मन्योंके मिथ्याज्ञानके विरुद्ध उल्लेखनीय प्रयोग करना भलीभांति जानता था'.''**[२९] वस्तुतः सोक्रेतिज़्को उपदेश देनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी. वह अपने प्रश्नों और पर्यनुयोगों द्वारा ही तथाकथित पण्डितोंमें भरी हुयी बद्धमूल खोखली भ्रान्तिओंको क्षतविक्षत कर देनेकी असाधारण क्षमता रखता था. फलरूपेण अन्तमें निर्मूल आरोप लगा कर मृत्युदण्डतया उसे विषपान कराया गया. मृत्युकी घड़ियोंमें भी उसने न तो अपनी जिज्ञासुता खोयी और न शम-दमोपेत मानसिक स्वस्थता. अर्थात् जीवनकी तरह मरणके अवसरपर भी उसने राग-द्वेषोंके क्षुद्र आवेगोंको कभी अपने मनके ऊपर प्रबल नहीं होने दिया. वह श्रीमद्भागवतोपदिष्ट **''स्वस्थः शेते मृत्युः अस्माद् अपेति''**[३०] आदर्शके अनुरूप विषपान करके पूर्ण मानसिक स्वस्थताके साथ शान्तिपूर्वक

सो गया! यह सोच कर कि या तो मृत्यु शाश्वत कष्टरहित निद्रा है; अथवा, शरीरोत्तर जीवनके सम्भव होनेपर, जिज्ञासा-पर्यनुयोगोंको अपराध न माननेवाले देवताओंका सालोक्य! उस समयके दर्शनव्याख्यानका व्यवसाय करनेवाले सोफिस्टोंके चिन्तनके साथ सोक्रेतिज़्के चिन्तनकी तुलना करते हुवे स्टेस् कहते हैं कि **''सोफिस्टोंने ज्ञानको उस सीमा तक प्रत्यक्षनिर्भर बना दिया कि ज्ञानके वस्तुसम्बन्धी याथार्थ्यके सारे निकष ही ध्वस्त हो गये थे. यह तो सोक्रेतिज़् था कि जिसने पुनः ज्ञानको तर्कनिर्भर बना कर सत्यको आपेक्षिक सत्य होनेक बजाय वास्तविक सत्यके पदपर आरूढ़ करवाया'.''**[३१] इन्द्रियानुभूति सभीकी अपनी निजी होती है, जिसमें दूसरे किसीको सहभागी बनाया नहीं जा सकता. अपने मनमें प्रकट हुवे प्रत्ययको, किन्तु, परिभाषाद्वारा या उद्देश्यविधेयभावात्मक वचनों द्वारा प्रकट कर उसमें दूसरेको भी सहभागी या सहचिन्तक बनाया जा सकता है. अतः ज्ञानका वह प्रकार जो सभीके बीच सामान्य न हो उसके आधारपर कुछ भी निर्णय नहीं लिया जा सकता है. स्टेस् कहते हैं कि सोफिस्टोंकी धारणा थी कि कोई भी प्रमेय व्यक्तिकी केवल निजी प्रमासे गम्य ही प्रमेय होता है. सोक्रेतिज़्ने इसे सुधारना चाहा और कहा कि व्यक्तिकी निजी प्रमाद्वारा गम्य होनेकी बात तो सही है परन्तु साथ ही साथ यह भी नही भूलना चाहिये कि व्यक्तिके प्रमाता होनेके स्वरूपमें ही उसकी निजी प्रमाओंके प्रमेयोंको प्रमेयतया मान्य करने चाहिंये. किसी व्यक्तिका प्रमाता होना उसका ऐसा स्वरूप है जो इतरप्रमाताओंसे साधारण होता है, इन्द्रियानुभव साधारण हो या न हो.[३२] एस् ई फ्रॉस्टके अनुसार प्रमात्मक ज्ञानकी उपलब्धिके लिये सोक्रेतिज़्ने किसी प्रत्ययके साथ अयथार्थतया जुड़े प्रत्ययोंके निरसनद्वारा मिथ्यामतिसे बच कर प्रमात्मिका मतिकी खोज करनी चाही. एतदर्थ सावधानीके साथ निरीक्षण और विमर्श द्वारा सामान्याध्यवसायोंको पाना चाहा जो विवादके विषय न बन पाते हों. अतः सभी वचनों और धारणाओं की सावधानीके साथ प्रश्नात्मिका परीक्षा वह करता था.

इस प्रक्रियाके अनुसरणद्वारा वह परिभाषाओंतक पहुंचनेका प्रयास करता था, जिन्हें वह तथ्यसम्बन्धी अग्रिम धारणाओं और वचनों के आधारतया स्वीकार करवा लेता था. इस तरह प्रत्ययोंके विश्लेषणसे निगमनात्मिका अनुमिति और प्रत्ययोंके परस्पर संश्लेषणद्वारा उपनयात्मिका अनुमिति का मार्ग भी सोक्रेतिज्ने इंगित कर दिया था.

स्पष्ट है कि सोफिस्टोंकी तरह ही वाल्लभ वेदान्तमें भी भगवान्के भक्तानुग्रहार्थ परिगृहीत रूपोंको तो भक्तोंकी निजी भक्तिमयी भावना या संवेदना से ही केवल वेद्य माना है. बावजूद इसके जगत्के साधारण रूपोंकी प्रमेयरूपताको दृष्टसापेक्ष माननेके बजाय सर्वदृष्टसाधारण प्रमाणव्यवस्थाके अनुसार ही स्वीकारना उचित माना है. अन्यथा अन्यख्याति और प्रमा के प्रभेदोंका स्वीकार ही अप्रासंगिक बन जायेगा.

प्लातो (ई.पू.४२७-३४७) : इन्द्रियजन्य ज्ञानकी तुलनामें तर्कोपनीत (Inductively obtained) या तर्कनिगमित (Deductively obtained) प्रत्ययोंका प्रामाण्य प्रबल माननेके सोक्रेतिस्के मतका अनुसरण करते हुवे प्लातोने इन तर्काश्रित प्रत्ययोंको अनुभवपूर्वभावी अर्थात् प्राक्तन जन्मोंसे 'Demiurge' नामक विश्वविधाताद्वारा आत्मामें समारोपित माना. प्रत्येक व्यष्टि शारीरात्माकी तरह समष्टि विश्वात्माको भी विश्वविधाता द्वारा निर्मित माना गया है. यों मानवात्मा शुद्धतर्ककी आंशिक अभिव्यक्ति होनेपर भी शरीरान्तर्बद्ध होनेसे अशुद्ध बन जाती है. इसी तरह शारीरिक बन्धनसे विनिर्मुक्त होनेपर वह पुनः शुद्धरूपमें भी अवस्थित हो पाती है. अतएव आत्मनिष्ठ तर्कगोचर प्रत्ययोंपर अवलम्बित होते बोधका ही प्रामाण्य उसने अधिक माना है. इन प्रत्ययोंमें प्रत्येक विशेष प्रत्ययका अपनेसे सामान्यमें अन्तर्भाव होता है. उसका पुनः उससे भी सामान्यतर प्रत्ययमें. उसका भी पुनः सामान्यतम प्रत्ययमें. सर्वान्तमें परमात्मा रूपी प्रत्ययमें सभी प्रत्ययोंका पर्यवसान या अन्तर्भाव हो जाता है. क्योंकि प्रत्ययोंमें वस्तुके मौलिक स्वरूपका अवभास होता है, जबकि इन्द्रियजन्य

अनुभूतिओंमें आगन्तुक गुणधर्मोंका. अतः, प्लातोके अनुसार, उत्पत्तिशील, विपरिणतिशील और नाशशील यह भौतिक बाह्य जगद् अपरिवर्तनशील दोषरहित आन्तरिक प्रत्ययोंकी सदोष प्रतिकृति या प्रतिबिम्ब रूप होता है. प्रत्ययोंके साँचेमें भौतिक द्रव्य भलीभांति ढाले नहीं जा सकते, एतावता उनमें विकृति प्रकट हो जाती है परन्तु प्रत्यय तो स्वयं अविकृत ही रहते हैं. यह बाह्यार्थकी आत्यन्तिक अस्वीकृतिकी धारणा नहीं थी परन्तु बाह्यार्थकी प्रत्ययोपम अविकारिता एवं अविनाशिता से विपरीत ख्यातिकी धारणा यहां प्रस्तुत हुयी थी.

बाह्य भौतिकी सृष्टिको सदोष और आन्तरिक प्रत्ययोंको निर्दोष माननेकी प्लातोकी विचारशैली और उसके विपरीत ज्ञानको बाह्य याथार्थ्यके निकषपर खरे उतरनेके उत्तरदायित्वसे विमुक्त रखनेकी सोफिस्टोंकी विचारशैली के तुलनात्मक विमर्शार्थ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका भी प्रस्तुत वचन अनुसन्धेय है :

> **''रूपसृष्टिकी अपेक्षया नामसृष्टि विलक्षण होती है : रूपसृष्टि सान्त होती है जबकि नामसृष्टि अनन्त. रूपसृष्टि स्थूल होती है जबकि नामसृष्टि सूक्ष्म. रूपसृष्टि विकृत होती है जबकि नामसृष्टि कूटस्थ अविकृत. रूपसृष्टि जड़रूपा होती है जबकि नामसृष्टि बोधरूपा. यहां यह शंका उठ सकती है कि रूपसृष्टिसे नामसृष्टि इतनी विपरीत यदि हो तो जगत्का विलय ही हो जाना चाहिये (सुन्दोपसुन्दन्यायेन). ऐसा परन्तु इस लिये नहीं होता है क्योंकि परमात्मा नानावादानुरोधी भी होता है. अतः सिद्धान्त, सिद्धान्ताभास और सिद्धान्तपाषण्ड रूप जो भी नाना वाद प्रकट होते हों तदनुरूप स्वरूप धारण करने ब्रह्म सक्षम होता है (ऐसी Plasticity ब्रह्म और तन्मूलक नामसृष्टि में स्वीकारी गयी है). क्योंकि भगवान्में वाच्य और वाचक बननेकी अनेकविध शक्तियां रहती ही हैं. अतः जो जैसा**

निरूपण करना चाहता है, भगवान् उसके प्रति वैसे वाक्यार्थतया (जैनपरिभाषाके अनुसार कहना हो तो *अर्थनयदृष्ट्या* वस्तुतः ब्राह्मिकी रूपसृष्टिमें वैसा कुछ पदार्थ हो या न हो परन्तु *शब्दनयदृष्ट्या* उस तरहकी निरूपणीयता वहां उपपन्न हो ही जाती है. अपवादतया वैसा साक्षात्कार भी उपपन्न हो ही जाता है) प्रकट हो जाते हैं'.'[३३]

एतावता यह स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धान्त और सिद्धान्ताभास के परस्पर वैपरीत्यका सोफिस्टोंके जैसा विलोपन किये बिना महाप्रभु परब्रह्म परमात्मा भगवान्के बारेमें सोफिस्टोंकी जैसी दृष्टसापेक्ष दृष्यानुभवप्रामाण्यकी एक विलक्षण धारणा प्रस्तुत करना चाहते हैं. जबकि बाह्य जगत्के बारेमें काफी हद तक प्लातोसे भी सहमत होते हैं. एतदर्थ ही सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशभूत आधिभौतिक जड़रूप, चिदंशभूत आध्यात्मिक जीवरूप, एवं आनन्दांशभूत आधिदैविक दिव्यरूपोंमेंसे प्रथम प्रकारके जड़रूपोंमें ब्रह्मताके अख्यातिगोचर हो जानेसे, देश-काल-वस्तुदृष्ट्या परिच्छिन्न अर्थाद् अन्यख्यातिगोचर होनेके कारण भी, उत्पत्ति-नाशका प्रतिभास सम्भव हो जाता है. द्वितीय प्रकारके अणुपरिमाण चिद्रूपोंको देश और वस्तु की दृष्टिसे परिच्छिन्न होनेके कारण जड़संघातमें गमनागमनशील माननेपर भी कालमें अपरिच्छिन्न ही माना गया है. तृतीय आधिदैविक रूपोंको देश-काल-वस्तुत्रितयदृष्ट्या अपरिच्छिन्न माननेके कारण कहीं भी कभी भी और किसी भी रूपमें स्वकीय दिव्येच्छया अथवा जीवभावानुरूप स्वरूपप्रदर्शनेच्छया प्रकट या अप्रकट हो पानेकी सामर्थ्यवाला माना गया है.[३४]

अरिस्तोतल् (ई.पू.३८४-३२२) : यूनानमें ज्ञान-विज्ञानकी अनेकविध शाखाओंको अपने विचारोंसे व्यवस्थित करनेवाले इस महान् चिन्तकने सोक्रेतिस्द्वारा अन्विष्ट प्रत्यय, और प्लातोद्वारा जिन्हें विकृत द्रव्योंका अविकारी निमित्त कारणतया मान्य किया गया था, उनका द्रव्यान्तर्यामितया

द्रव्यान्तःस्थापन किया. यों कार्य-कारणभावकी एक विलक्षण मीमांसा प्रवर्तित की. इसके अनुसार कारण चार प्रकारके होते हैं : [१]प्रारूपात्मक (Formal Cause) [2]उपादानात्मक (Material Cause) [3]निमित्त (Efficient Cause) और [४]अन्तिम प्रयोजन (Final Cause). इसमें देखा जा सकता है कि सोक्रतिस्का प्रत्यय या प्लातोका आइडिया प्रारूपकारणतया जायमान द्रव्योंके भीतर प्रतिष्ठापित किया गया है. अरिस्तोतल्के अनुसार प्रारूपकारण परमात्माके भीतर रहता है और वही बीजभावेन विकसित हो कर सृष्टिरूप धारण करता है. अरिस्तोतल्को भी, वाल्लभ वेदान्तकी तरह, परमात्माके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होनेकी धारणा मान्य थी. वह भी **''तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत''** [३५] जैसी धारणा रखता था. न केवल इतना ही अपितु उसके अनुसार परमात्मा अविचल कूटस्थ सृष्ट समस्त रूपोंका संचालक है और अतएव प्रत्येक वस्तु उसी दिशामें अग्रसर होती हुयी, प्रलयकालमें आन्तरिक प्रारूप और बाह्य द्रव्य होनेके प्रकट भेदसे उत्तीर्ण हो कर, अन्तमें शुद्ध प्रारूपात्मना परमात्मामें अवस्थित हो जायेंगी. अतः वह परमात्माको ही चतुर्विध कारणतया स्वीकारता है.[३६] अरिस्तोतल्ने अपने महागुरु और गुरु को अभिमत प्रत्यय या आईडिया से उपनयात्मक एवं निगमनात्मक अनुमितिओंके, कैसे प्रकार प्रामाणिक प्रत्ययरूप होते हैं और कैसे प्रत्ययाभासरूप होते हैं, इस बारेमें सुविशद विवेचना प्रस्तुत की. तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी अपने समृद्ध एवं सुविशद चिन्तनको अरिस्तोतल्ने 'Analytica Posteriora' और 'De Anima'नामक ग्रन्थोंमें निबद्ध किया है. इससे पूर्व इस तरहका कोई ग्रन्थ वहां या अन्यत्र पूर्वचिन्तकोंने लिखा था या नहीं मुझे ज्ञात नहीं. किसी भी सूरतमें अरिस्तोतल्के जैसी ज्ञानविभूतिका धरातलपर जनमना विश्वकी कुछ विरल घटनाओंमेंसे एक है, इसमें कोई सन्देह नहीं. सर्वप्रथम उसने *अनेलाइतिका पोस्तेरिओरा* में तर्कशास्त्रीय नियमोंकी विवेचना करते हुवे उद्देश्य-विधेयभावघटित प्रतिज्ञावचनोंके घटक उद्देश्य और विधेय मेंसे कौनसा व्यापक होता है तथा कौनसा व्याप्य, क्योंकि, उदाहरणतया, धूम जैसे वह्निव्याप्य

होता है ऐसे ही धूमका प्रत्यय भी वह्निके प्रत्ययका व्याप्य होता है. वह्निका प्रत्यय, किन्तु, धूमके प्रत्ययका व्याप्य नहीं होता. अतः इस तरह प्रतिज्ञावचनोपात्त साध्यप्रत्यय और हेतुप्रत्यय के बीच परस्पर व्यापक तथा व्याप्य होनेके तार्किक सम्बन्धोंकी विवेचना की. इस सन्दर्भमें स्वयं प्रतिज्ञावचनोंके विधायक-निषेधक तथा सामान्यनिरूपक-विशेषनिरूपक रूपोंको परस्पर द्विगुणित करनेपर [१]सामान्यविधायक [२]सामान्यनिषेधक [३]विशेषविधायक तथा [४]विशेषनिषेधक, यों चार मूल प्रभेद उसने स्वीकारे. इसके बाद इनका व्याप्तिवचनतया, उपनयतया अथवा निगमनतया त्रिविध प्रयोग सम्भव मान कर युक्ति या परार्थानुमिति के उन्नीस अवान्तर प्रभेद समझाये हैं. इन्हें युक्तिके आदर्श निकष बनानेसे प्रत्ययोंकी विश्लेषणात्मक या संश्लेषणात्मक विवेचनामें होती त्रुटिओंपर काबू पाया जा सकेगा, ऐसी उसकी धारणा थी. इस सन्दर्भमें परार्थानुमितिकी विवेचनामें तो वाल्लभ वेदान्तका कोई अपना मौलिक विवेचन उपलब्ध नहीं होता सिवाय इसके कि प्रस्थानरत्नाकरकारद्वारा मान्य रखा गया व्याप्ति उपनय और निगमन रूपी त्र्यवयवोंका सिद्धान्त स्वयं अरिस्तोतल्द्वारा प्रस्तावित सीलोजिज़्मूसे गहरी समानता रखता है. भारतीय हेत्वाभासोंके स्वरूप और अरिस्तोतल्को अभिमत अनुमित्याभासोंके स्वरूपोंका सामान्यपार्थक्यभाव एक स्वतन्त्र आलेखनकी अपेक्षा रखता होनेसे यहां उसकी चर्चा अनुपयोगी ही होगी.

'दॅ अनीमा' में अरिस्तोतल्ने ज्ञानमीमांसाके अन्तर्गत तीन खण्डोंमेंसे प्रथममें आत्माके बारेमें परकीय मतों, यथा, आत्मा शरीरान्तर्वर्ती विरोधाभासोंको सुसंवादित करनेवाला पदार्थ है, आत्मा अस्वगतिवशात् गतिमान् होता पदार्थ है, आत्मा स्वयंचालित संख्या है, अन्यपदार्थोंका संघातरूप पदार्थ है, सर्वव्यापी है आदि मतोंका निराकरण किया है. आत्मा अपने भीतर रहे इच्छाश्रय भाग और विचाराश्रय भाग, यों दो विभागोंमें विभक्त है, ऐसी धारणाओंका भी निराकरण किया है. द्वितीय खण्डमें आत्माकी स्वाभिमत परिभाषा, उसके क्रियाकलाप, ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष,

प्रत्यक्षगोचर विषयोंके प्रभेद, दृष्टि श्रवण घ्राण रसना और स्पर्श तथा इनके विषयों तथा बाह्येन्द्रियोंके सामान्य स्वरूपकी विवेचना की है. इसी तरह तृतीय खण्डमें बाह्येन्द्रियोंकी संख्या, सामान्यज्ञान, विचार, प्रत्यक्ष और कल्पना रूपी ज्ञानोंका प्रभेद, कल्पनाका विशद स्वरूप, ज्ञानविषयीभूत तथा ज्ञानाश्रयीभूत अन्तःकरण, अन्तःकरणके द्विविध व्यापार, व्यवहारानुगुण और विचारानुगुण अन्तःकरणका प्रभेद, अन्तःकरणकी इन्द्रियों तथा कल्पना के साथ तुलना, कर्मेन्द्रियोंकी समस्या, सजीव वस्तुमें गतिहेतुओंकी विवेचना अन्तमे आत्माके विविध क्रियाकलापोंके परस्पर सम्बन्ध और जीवनार्थ उनकी उपयोगिता जैसे विषयोंकी विवेचना की है.

इसके आधारपर संक्षिप्त निरूपणतया सर्वप्रथम आत्मा (Soul) और अन्तःकरण (Mind) को पृथक् माना जाना एक उल्लेखनीय तथ्य है. क्योंकि वाल्लभ वेदान्तमें भी यही स्वीकारा गया है. वह अन्तःकरणको आत्मामें समारोपित मानता है जबकि वाल्लभ वेदान्तके अनुसार अन्तःकरण सूक्ष्मक्षरीरका घटक होता है जिसमें आत्मा बंध जाती है. अरिस्तोतल्के इस विचारसे वाल्लभ वेदान्त सहमत नहीं है कि विचार राग और द्वेष अन्तःकरणके कार्य नहीं प्रत्युत कर्तृगत क्रिया हैं जिन्हें आत्मा अन्तःकरणद्वारा सम्पन्न करती है. वाल्लभ वेदान्त इन क्रियाकलापोंमें आत्मा और अन्तःकरण रूपी इतरेतरधर्मधर्मिओंके इतरेतरतादात्म्याध्यासको हेतु मानता है. अरिस्तोतल् प्रायः सर्वत्र स्वरूपयोग्यता (potential)और फलमुखयोग्यता (actual) के पार्थक्यकी युक्तिका आश्रय ले कर ही अपनी सारी बातें समझाता है. तदनुसार बाह्येन्द्रियां प्रत्यक्षानुभवार्थ स्वरूपयोग्य होनेपर भी बाह्यविषयोंके साथ संनिकर्षके बिना प्रत्यक्षानुभवजननार्थ फलमुखयोग्य नहीं बन पाती है. अतः फलमुखयोग्यताके आधायक हेतुतया विषयोंका अनुमान करनेपर जो विषय जिस इन्द्रियके बिना गृहीत ही न हो पाता हो, उदाहरणतया, रक्त-नीलादि वर्णोंके प्रत्यय चक्षु इन्द्रियके बिना अन्य किसी भी इन्द्रियसे ग्राह्य

हो नहीं पाते; अतः, वर्णप्रत्यक्षमें चक्षुके भ्रान्त होनेकी शक्यता नहींवत् या अत्यल्पा ही अरिस्तोतल्के अनुसार होती है. गति विश्रान्ति संख्या आकृति परिमाण आदि एकेन्द्रियग्राह्य नहीं होते अतः इनके अवभास भ्रान्ति होनेकी सन्देहास्पदतासे ग्रस्त रहते हैं. इस तरहका पृथक्करण वाल्लभ वेदान्तमें कहीं उपलब्ध नहीं होता. फिरभी इतना तो निश्चिततया कहा जा सकता है कि ''इन्द्रियजन्य प्रतिभास + कल्पना = भ्रान्तिप्रत्यक्ष'' समीकरण दोनों ही, अरिस्तोतल् तथा वाल्लभ वेदान्त, के अनुसार अपरोक्षभ्रान्तिकी समीचीन व्याख्या है. अर्थात् केवल इन्द्रियोसे उत्पन्न नहीं अपितु इन्द्रियोत्पन्न सामान्यज्ञानका कल्पनाजन्य विशेषज्ञानात्मना परिणत होना अपरोक्षभ्रान्ति है. अरिस्तोतल् कहते हैं कि या तो हमें स्वीकारना चाहिये सभी ज्ञान यर्थाथ होते हैं या भ्रान्तिज्ञानमें विसदृश वस्तुके साथ संनिकर्ष स्वीकारना चाहिये. यह यथार्थज्ञानसे विपरीत होता है.[३७] अरिस्तोतल्के अनुसार उत्प्रेक्षारूप या व्यावहारिक चिन्तन, भेदविज्ञान तथा प्रत्यक्षज्ञान ये आत्माके गुणधर्म हैं. इनमें उत्प्रेक्षात्मक चिन्तनद्वारा ही याथार्थ्य या अयाथार्थ्य का विवेक शक्य हो पाता है. पार्थक्यबोध, विज्ञानका तथा प्रमात्मकमतिका याथार्थ्यविवेक, उत्प्रेक्षात्मक चिन्तनद्वारा शक्य बनता है. पार्थक्याविवेक, मिथ्याज्ञान, भ्रमात्मकमति के अयाथार्थ्यका विवेक भी इसी उत्प्रेक्षात्मक चिन्तनद्वारा शक्य बनता है. अतएव जिन प्राणियोंमें कल्पनाशक्ति अथवा उत्प्रेक्षात्मक चिन्तन का सामर्थ्य नहीं होता उन्हें भ्रम भी नहीं हो सकता. उत्प्रेक्षात्मक चिन्तन कल्पनाशक्तिका ही एक प्रभेद है. इन्द्रियप्रतिभास दृश्यहेतुक आत्मनिष्ठ दर्शनरूप व्यापार होता है. कल्पनाका, जबकि, वैसा न होना स्वप्नके उदाहरणके बलपर भी सिद्ध होता है. प्रत्यक्ष सार्वदिक होता है जबकि कल्पना तात्कालिक. प्रत्यक्ष कभी अयथार्थ हो सकता है जबकि कल्पना कभी ही यथार्थ होती है. एकेन्द्रियग्राह्य, उदाहरणतया, चक्षुर्ग्राह्य श्वेतताके प्रतिभासके भ्रान्ति होनेकी शक्यता अत्यल्प होनेपर भी ऐसे श्वेततताके सहचारी श्वेतवर्णयुक्त वस्तुके बारेमें उत्पन्न होता ज्ञान भ्रम या प्रमा कुछ भी हो सकता है, इन्द्रियप्रतिभासके साथ कल्पनाके मिश्रित हो जानेके

कारण. इन्द्रियग्राह्य विशेष वस्तुके प्रतिभासका भ्रमात्मक होना सहसा शक्य नही परन्तु एकेन्द्रियग्राह्य विशेषवस्तु सहभूत अनेक विषयोंमें अनुगत सामान्यधर्मोंका प्रतिभास केवल इन्द्रियग्राह्य होनेके बजाय अन्तःकरणजन्य ज्ञानका विषय होता है. अतएव इस विषयमें भ्रान्तिज्ञानके उत्पन्न होनेकी शक्यता प्रबल होती है. यद्यपि साथ ही साथ अरिस्तोतल् यह भी कहते हैं कि दर्शनका जैसे किसी दृश्यसे सम्बन्धी होना आवश्यक है, ऐसे ही अन्तःकरणद्वारा किये जाते चिन्तनव्यापारका चिन्त्यमान विषयसे सम्बन्धी होना भी जरूरी होता है. अतएव भ्रमके उदाहरणोंमें गृह्यमाण और चिन्त्यमान विषयोंके प्रत्ययोंके संश्लेषण अथवा दो चिन्त्यमान विषयोंके प्रत्ययों परस्पर संश्लेषणमें हुयी गड़बड़ीके कारण ही होता है. अर्थात् यह इन्द्रियव्यापार न हो कर मनोव्यापार होता है.

इस तरह हम देख सकते हैं वाल्लभ वेदान्त सर्वांशमें चाहे भ्रान्तिकी इस विवेचनासे सहमत न हो फिरभी अरिस्तोतल्के भ्रान्तिसम्बन्धी विचारमें पर्याप्त अन्यख्यातिवादान्तर्गत अभ्युपगत भ्रान्तिप्रक्रियाके तत्त्व उपलब्ध होते हैं : भ्रमारोपके अधिष्ठानका सामान्यज्ञानविषयीभूत होना, मनसोपनीत जात्यादिविकल्पोंका अनियततया कभी यथार्थ तो कभी अयथार्थ होना, अन्तःकरण और आत्मा का पार्थक्य, भ्रान्तिभात विषयकी आन्तरिकता, स्वयं महाप्रभुके शब्दोंमें कहना हो तो विषयके परमार्थ होनेपर भी विषयताका कल्पित होना आदि.

अवशिष्ट प्रत्ययसम्बन्धी मुद्दोंके बारेमें महाप्रभुके वचन दोनों मतोंके तुलनात्मक विमर्शके लिये अतीव उपयोगी हो सकते हैं :

> **''ऐसा वह आद्य पुरुष प्रत्येक कल्पमें सृजन करता है. वह अज आत्मा स्वयं आत्मामें आत्मना स्वयं आत्माको उपसंहृत भी करता है और पालता भी है. वह विशुद्ध केवल ज्ञानरूप प्रत्यक् सम्यग् अवस्थित सत्य पूर्ण आद्यन्तरहित**

निर्गुण नित्य अद्वयरूप होता है'... यहां 'अज' कहनेका अभिप्राय सदा एकरूप होनेमें है. वही उपादान, करण और कर्ता भी बनता है. 'आत्मा'=स्वयमेव कर्ता. 'स्वयं आत्मामें'=स्वयमेव अधिकरण बननेवाला. 'आत्मना'=अपने-आपको करण बना कर. 'स्वयं आत्माको'=विश्वरूपतया स्वयंको उत्पत्तिक्रियाका कर्म बना कर... वह सर्वत्र अक्षोभ्य, सर्वत्र उत्पत्तिविनाशधर्मरहित, सर्वत्र परिच्छेदरहित, सर्वत्र एकरूप, सर्वत्र निश्चल, सर्वत्र समीचीन, सर्वत्र प्रत्यक्स्फूर्तिरूप, सर्वत्र ज्ञानरूप, सर्वत्र असङ्गोदासीन और शुद्ध रहता ही है'.'[३८]

एतावता यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्विध कारणोंमेंसे उपादान निमित्त तो कण्ठोक्ततया स्पष्ट हैं परन्तु प्रारूपकारणके जैसी प्रक्रिया भी वाल्लभ वेदान्तमें भी सुबोधिनीमें[३९] निरूपित हुयी है. वहां सृज्यमान ज्ञान-ज्ञेयात्मक सकल रूपोंका सृष्टिसे पूर्व ही ज्ञानात्मक रूपोंमें दर्शन भगवान्ने ब्रह्माजीको कराया. यह प्रारूपकारणसदृश ही प्रक्रिया है. इसी तरह उतना सुपरिभाषित न होनेपर भी अन्तिम *फाइनल कॉज* भी यहां प्रयुक्त 'उपसंहृत' पदद्वारा प्रत्यापत्तितया पुनः ज्ञानात्मना अवस्थान भी सिद्धान्ततः स्वीकार्य माना जा सकता है. कुल मिला कर ऐसे सन्दर्भमें भ्रान्तिसम्बन्धी धारणाओंके बारेमें यह कहा जा सकता है कि जैसे वाल्लभ वेदान्तमें भ्रान्तिज्ञानको निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तथा विकल्पकल्पना से घटित एक विशिष्टज्ञान माना गया है, उसी तरह अरिस्तोतल् भी प्रत्यक्षको भ्रान्तिसम्भावनासे रहित परन्तु विशिष्टज्ञानके स्तरपर उसी प्रत्यक्षके इन्द्रियग्राह्य विषयसे इतरकी कल्पनासे संवलित हो जानेसे उसे मिथ्यावस्तुका अवभासरूप मान लेता है.

६.एपिक्युरीअन्स् और स्तोइक : अरिस्तोतल्के बाद यूनानमें **एपिक्युरस्** (ई.पू.३७१-२७०), जिसके अनुगामी 'एपिक्युरीअन' कहलाये;

और, द्वितीय **ज़ेनो** (ई.पू.३३६-२६४) जिसके अनुगामी 'स्तोइक' कहलाये. ये दोनों ही तत्त्वविचारकी दृष्टिसे परमाणुवादी थे. अन्तर भी दोनोंके बीच कुछ-कुछ ऐसे थे कि एपिक्युरीअन् सोचते थे कि कुछ परमाणु अपनी ऋजुगतिसे भटक कर अन्य परमाणुसे टकरा जाते हैं अतः संघातारम्भ होता है. स्तोइक, जबकि, अनेकविध परमाणुओंमें अग्नि परमाणुओंको आत्माके रूपमें स्वीकार कर आत्मप्रेरित गतिवशात् उन्हें गतिशील मानते थे. दोनोंने ही तत्त्वचिन्तनके बजाय जीवनको सुखी कैसे बनाया जाये इस विषयपर अधिक भार दिया. दोनों ही अन्तःकरणजन्य ज्ञानके बजाय इन्द्रियजन्य ज्ञानके प्रामाण्यपर अधिक भार देते थे. अतएव आत्मामें अन्तर्निहित प्रत्ययोंकी प्लातोकी धारणा इन्हें मान्य नहीं थी. ऐसी स्थितिमें अरिस्तोतल्को अभिमत प्रारूप और प्रयोजन प्रत्ययोंका तो विचारावकाश अवरुद्ध हो जाता है. इनके अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञानोंके संयोजनवशात् प्रत्ययोंका बुद्धिमें उदय होना माना गया. इस अर्थमें आनुभविकवादी चिन्तनके बीजवपन करनेवाले दार्शनिकके रूपमें स्तोइक स्वीकारे जा सकते हैं.

७.सन्देहवादका प्रवर्तन : पाइर्हो (ई.पू.३६७-२७५)ने प्रचलित विवादोंमें किसी तरहकी निश्चितताके प्राप्तिकी आशा खण्डित हो जानेसे सन्देहवादका उपदेश देना प्रारम्भ किया कि मानवबुद्धि यथार्थावधारणमें समर्थ ही नहीं है. अतः मानवको केवल व्यावहारिक हो कर ही जीवन जीना चाहिये. सन्देहात्मिका मनोवृत्तिके प्रबल होनेपर समूचे ज्ञानकी प्रमाणिकताके सन्दिग्ध हो जानेपर न तो प्रमाको और न भ्रान्तिको ज्ञानके गम्भीर प्रकारभेदोंके रूपमें सोचा जा सकता है. अतः ख्यातिवादकी मीमांसा इनके बारेमें अनावश्यक ही होनी चाहिये.

८.धार्मिक चिन्तक फीलो और प्लोतिनस् : दार्शनिक मतभेदोंके कोलाहलसे थके हुवे कान धार्मिक श्रद्धायुक्त निश्चित वचनोंको सुन कर समाश्वस्त होना चाह ही रहे थे तब ईसा मसीहके समकालिक

मिस्रके यहुदी चिन्तक **फिलो** (ई.पू.२५-ई.४५)ने प्लातोको अभिमत भगवान्के जैसे जगत्कारणीभूत *लोगॉस्* शक्तिद्वारा *यह्वेह* को जगत्के जनकतया प्रतिपादित किया. इस लोगॉस्को वह द्रव्यके भीतर भी और बाहर भी स्वीकारता था. इसके अनुसार जगत्के प्रत्येक पदार्थ भगवान्के मनमें रहे प्रत्ययोंकी अनुकृति होते हैं.

इसी तरह मिस्रका **प्लोतिनस्** (ई.२०४-२६९) भी ऐसा ही कुछ मानता धा कि स्वयंप्रकाश सूर्यसे व्युच्चरित किरणपुञ्ज जैसे अधिक दूरवर्ती हो जानेपर क्षीण हो कर अन्धकारसदृश हो जाते हैं, ऐसे ही परमात्मासे व्युच्चरित हो कर दूरगामी पदार्थ जड़द्रव्य बन जाते हैं. परमात्मा और जड़द्रव्यों के मध्यवर्ती पदार्थ जीवद्रव्य अर्थाद् अन्तःकरण और जीवात्मा बन जाते हैं.

यूनानी चिन्तनके अन्तिम छोर जैसे इन दोनों दार्शनिकोंका शुद्धाद्वैतवादी होना हमारे भीतर पर्याप्त कुतुहल जगाता है. अतएव इनके मतोंकी वाल्लभ मतसे तुलना कर लेनी उपयुक्त होगी.

हम जानते हैं कि वाल्लभ वेदान्तमें भी सच्चिदानन्द ब्रह्मके चिदानन्दांशके तिरोधानवश, दूरवद्भावापन्न सदंश जड़द्रव्यात्मना प्रकट होते हैं और इन दोनोंके मध्यमें अवस्थित केवल आनन्दांशके तिरोधानवश समीपतरवत् चिदंश जीव बनते हैं, यों वाल्लभ वेदान्तमें भी ऐसी दूरी और समीपता के प्रत्ययोंद्वारा जड़जीवेश्वरत्रयीकी व्याख्या करनेपर यह प्लोतिनस्का मत पर्याप्त सन्निकटवर्ती लगता है. जगत्को भगवल्लीलाके रूपमें माननेवाले वाल्लभ वेदान्तकी तरह प्लोतिनस् भी जगत्को दोषदृष्टिसे निहारनेके बजाय परमेश्वरकी कृति होनेके कारण सौन्दर्यदृष्टिसे निहारनेकी वृत्तिपर भार देता है. अतएव अनुमान लगाया जा सकता है कि भ्रान्तिके बारेमें भी प्लोतिनस्का मत वाल्लभ वेदान्तसे बहोत भिन्न नहीं होगा. बर्ट्रेंड् रसेल अपने *'ॲ हिस्टॉरी ऑफ़् वेस्टर्न् फिलोसोफी'*

नामक ग्रन्थमें कहते हैं कि **''प्लोतिनस् जैसे यूनानी चिन्तनका अन्त था वैसे ही आनेवाले ईसाईचिन्तनका वह आदि भी सिद्ध हुवा'.''**[४०]

(५)ईसाई साम्प्रदायिक चिन्तन :

कहा जाता है कि ईसाईओंको जब अपने धार्मिक सिद्धान्तोंको बुद्धिग्राह्य बनानेके उत्तरदायित्वका बोध हुवा तब प्लातो और अरिस्तोतल् के चिन्तनोंसे प्रभावित प्रमुखतया दो खेमोंमें ईसाई चिन्तन बट गया. प्लातोके दर्शनसे प्रभावित चिन्तन करनेवाले सम्प्रदायके अगुआ सन्त ऑगस्ताइन् थे. अरिस्तोतल्के दर्शनसे प्रभावित चिन्तन करनेवाले सम्प्रदायके अगुआ परवर्ती सन्त थोमस् अक्वीना हुवे. ये दोनों ही ईसाईचिन्तनमें प्रकटे दो ध्रुवोंकी तरह हमारे सामने आते हैं.

इन्द्रियगोचर विशेष व्यक्तिओं या विशेषवस्तुओं में प्रतीत होती परिवर्तनशीलता, उत्पत्तिविनाशशालिता या अपरिपूर्णता और उनके बुद्धिगोचर प्रत्यय या प्रारूपों में प्रकट होती अपरिवर्तनशीलता, अनादि-अनन्तता और परिपूर्णता के द्वैतने इन सभी चिन्तकोंको सर्वदा ही वैचारिक उलझनमें डाले रखा. कभी एकको सत्य और दूसरेको असत्य, तो कभी दोनोंको ही असत्य, तो कभी दोनोंको सत्य माननेके मतभेदोंसे दर्शनशास्त्रेतिहास भरा पड़ा है. ईसाईओंके पवित्र ग्रन्थके अनुसार परमेश्वरको जगत्कर्ता तो माना ही गया था परन्तु जगत्के उपादानतया किसी पदार्थकी अपेक्षा रखे बिना परमेश्वर शून्यमेंसे सृष्टि प्रकट करने समर्थ है, ऐसा भी माना गया. अतः उसकी ऐसी सामर्थ्यको उसकी पूर्ण दिव्य सामर्थ्यके रूपमें सोचा गया. अतः जागतिक रूपोंके उपादानभूत द्रव्य (Matter) और जगत्कर्ता जगदीश के बारेमें, स्वाभाविकतया, परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले दो पदार्थोंके रूपमें द्वैतवाद स्वीकार लेना आवश्यक हो गया. आदमको तो परमेश्वरने प्रायः अपने अनुरूप सिरजा परन्तु भौतिक जगत्को अपने उतना अनुरूप नहीं सिरजा! अतः स्वर्गसे आदम-ईवका भूतलपर मर्त्य प्राणीके रूपमें अधःपात ही

हमारी भौतिकता है. यौनसंभोगजन्य भौतिक शरीरमें जीवात्माका बद्धतया अवस्थान हमारी दोषपूर्णता है. स्वयं परमेश्वरके अपने स्वरूपमेंसे प्रादुर्भावित अपने पवित्रपुत्र ईसा मसीहका हमारे अक्षम्य अपराधोंके क्षमाप्रदानार्थ बलिदान; और, उस मूल मानवीय अपराधकी क्षमाभ्यर्थनाकी बलीके रूपमें शूलीपर चढ़े ईसाकी पीड़ामें समवेदना या संवेदनाद्वैत में जीवात्माके उद्धारकी मान्यता विकट द्वैतवादकी जन्मदात्री बनी. स्वर्ग-भूतल, मृत्युशीलता-अमरता, संभोगज-असंभोगज जन्म, अपराध-क्षमा, ईसा-ईसेतर मसीहा और अन्ततः ईसाईधर्म-इतरधर्मों के बीच रहे कठोर द्वैतपर ही वह सार्थकतया अवलम्बित हो पाती हैं. अतः भौतिक जगत् तथा अभौतिक जगदीश, भौतिकशरीर तथा अभौतिकात्मा, अपराधोंकी भौतिकता तथा कृपाकी अभौतिकता के द्वैत ईसाई चिन्तनमें नींवकी तरह रोपित हैं. अतएव प्लातोके अभौतिक प्रत्यय और अरिस्तोतल्के भूतान्तर्वर्ती प्रत्यय के बारेमें भी प्रचुर विवाद जगा देनेवाले प्रमुख हेतु भी ये बन गये.

१.सन्त ऑगस्ताइन (ई.३५०-४३०) : इनके अनुसार परमेश्वरने शून्यमेंसे अवकाशात्मक देश, काल तथा द्रव्यात्मिका सृष्टि प्रकट की है और सृष्टिका रूप प्रारूपतया परमेश्वरके मनमें समयके आरम्भके साथ विद्यमान था.[४१] एस ई फ्रॉस्ट कहते हैं **''सन्त ऑगस्ताइन् द्रव्य और अन्तःकरण के बीच भेद मानते हैं परन्तु साथमें यह भी स्वीकारते हैं कि सत्य मानवान्तःकरणद्वारा सृष्ट नहीं होता, क्योंकि सत्य परमेश्वरमूलक होनेसे मानवान्तःकरणके आधीन ही नहीं होता. फिरभी मानवान्तःकरणद्वारा सत्यका अन्वेषण और उपलम्भ शक्य है'.'**[४२] सन्त ऑगस्ताइन्के अनुसार भौतिक जगत्के बारेमें हमारा ज्ञान इन्द्रियजन्य अनुभवोंपर ही आश्रित हो सकता परन्तु इन्द्रियातीत विषयोंके बारेमें ज्ञानके लिये तो परमेश्वरद्वारा प्रकट की गयी दिव्यानुभूतिपर ही आश्रित होना पड़ता है.[४३] ईसा मसीहके बारेमें सन्त ऑगस्ताइन्का कहना है कि वे परमपिताके परमविवेकके मूर्तिमान स्वरूप हैं, अतः ईसाके

वचनोंके आधारपर ही पिता-पुत्र-पवित्रात्मत्रयीका भलीभांति बोध शक्य बनता है.[४४]

वाल्लभ वेदान्तमें भी हम देख ही चुकें हैं कि वेदवचनोंको परब्रह्म परमात्मा भगवान्के धर्मरूप ज्ञानतया मान्य किया गया है और ब्रह्मको वेदादि-शास्त्रैकगम्य माना है. अतः ब्रह्मके आधिभौतिक नाम-रूप-कर्मोंके समीचीन बोधार्थ प्रत्यक्ष या अनुमिति आदि प्रमाणोंका व्यावहारिक प्रामाण्य मान्य होनेपर भी प्रत्यक्षानुमितिगोचर आधिभौतिक नाम-रूप-कर्मोंके आध्यात्मिक या आधिदैविक पहलुओंका प्रामाणिक ज्ञान श्रुत्यादि-शास्त्रैकगम्य ही माना गया है.[४५] अतः प्रकट दिव्यानुभूतिसिद्ध विषयोंसे विपरीत जब इन्द्रियजन्य अनुभूति या तन्मूलक तर्क जाते हों, तब उन्हें भ्रमरूप मानना ही पड़ेगा.

इस चिन्तनमें जगत्का मिथ्यात्व अभिप्रेत न होनेके कारण, साथ ही साथ प्रत्यक्षानुभूतिके भी सर्वथा दोषरहित न होनेके कारण भ्रान्तिसम्बन्धी धारणामें असत्ख्याति अनिर्वचनीयख्याति आत्मख्याति को तो अवकाश सम्भव नहीं लगता. अतः माध्वाभिमत असदन्यथाख्याति या रामानुजाभिमत अख्याति ही उपपन्न हो सकती होंगी.

२.जॉन् स्कॉटस् एरिजेना (ई.८१०-८७७) : द्वैतवादी सन्त ऑगस्ताइन्के ३८० वर्षोंके बाद नौवीं शताब्दिमें यह ईसाई चिन्तक शुद्धाद्वैती विचारधारामें विश्वास प्रकट करनेवाला हुवा. शून्यमेंसे सृष्टिके उत्पन्न होनेके ईसाई पवित्रग्रन्थ बायबल्में कहे विधानकी व्याख्या भी इसके अनुसार स्वयं परमेश्वरके सिवा अन्य किसी भी तत्त्वमेंसे उत्पन्न न होनेके रूपमें ही यह स्वीकारता था. प्रकाशाश्रयसे जैसे प्रकाश व्युच्चरित होता है, उसी तरह जगत् परमेश्वरमेंसे व्युच्चरित हुवा है, ऐसे मानता था. अतएव जगत्कर्ताको अपनी कृतिमें विद्यमानतया जगत्से अभिन्न माननेपर भी वह जगत्से जगदीशको कुछ अधिक ही मानता

है. परमेश्वरको एक अविभाज्य पदार्थ माननेके कारण जगत्में भी अभेद ही स्वीकारता था.

यों इन्द्रियगोचर द्वैतमें परमेश्वरके बुद्धिगोचर अद्वैतकी यह स्वीकृति थी. महाप्रभुका भी इस बारेमें यह वचन तुलनीय लगता है **''जगत्को ब्रह्मतया जान लेना अच्छी बात है परन्तु ब्रह्म तो जगत्से कुछ अधिक ही होता है, अतः जागतिक विषयोंमें ब्रह्मभावानुगुणा आसक्ति नहीं रखनी चाहिए'.''**[४६] अतः भ्रान्तिज्ञानके बारेमें भी जॉन्हके विचारोंमें रामानुजाभिमत अख्याति या वाल्लभाभिमत अन्यख्याति की ही कोई धारणा सुसंगत लगती है.

३.रोज़ेलीन् और एबेलार्ड : बर्ट्रेंड् रसेल् अपने पश्चिमी दर्शनके इतिहासमें ईसाई साम्प्रदायिक दर्शनकी प्रमुख विशेषताओंको चार मुद्दोंमें विभाजित करते हैं[४७] :

१.यह सारा चिन्तन चिन्तकोंके लिये निश्चयात्मक न हो कर ईसाईओंकी धार्मिक संसद्के समक्ष विमर्शार्थ प्रस्तावित चिन्तन होता था. क्योंकि संसद्द्वारा अमान्य होनेपर चिन्तकको अपने वैसे चिन्तनको अप्रामाणिक घोषित करनेके लिये भी तत्पर रहना पड़ता था.

२.अरिस्तोतल्के विधान, जो बारहवीं शताब्दिमें चर्चको लगभग पूर्णतया मान्य हो गये थे, उनसे किसी भी प्रस्तावित विचारोंका अविरुद्ध होना भी प्रायः आवश्यक होता था.

३.पूर्वोत्तरपक्षोंका निरूपण व्याप्तिवचन, उपनय और निगमन के सूक्ष्म विवादनिकर्षोंसे सर्वथा अप्रतिकूल होना इस चिन्तनप्रणालीमें आवश्यक होता था.

४.प्लातो या अरिस्तोतल् के द्वारा अंगीकृत किसी भी सामान्य या जातिरूप प्रत्ययसे प्रस्तुत विचारोंके विपरीत

होनेपर उन्हें अप्रमाणिक ही मानना भी आवश्यक होता था.

रसेलका यह भी कहना है कि ईसाई साम्प्रदायिक चिन्तनकी धारामें प्रथम स्वतन्त्र चिन्तक तो वास्तवमें **रोज़ेलीन्** (ई.१०५०?-१११२) ही हुवा.[४८] रोज़ेलीन्के अनुसार प्लातो-अरिस्तोतल्को अभिमत आइडिया, प्रारूपात्मक प्रत्यय अथवा सामान्य(जाति)प्रत्यय जैसा कोई प्रामाणिक प्रत्यय होता ही नहीं है, क्योंकि इन्द्रियजन्य विशेषवस्तुका प्रत्यक्ष ही केवल प्रामाणिक होता है. न केवल जाति या सामान्य के प्रत्ययोंको वह अप्रामाणिक मानता था, अपितु अंशोंको प्रामाणिक प्रमेयतया माननेपर भी, अंशी जैसी किसी वस्तुके प्रामाणिक होनेकी बात उसे जंचती नहीं थी. अतएव पिता-पुत्र-पवित्रात्माकी व्यक्तित्रयीमें तीनोंही अंशोंको प्रामाणिक माननेपर भी उक्तत्रयीका कोई अंशी स्वरूप भी होता है, ऐसे वह नहीं मानता था. मध्यकालीन ईसाईओंके बीच पवित्रत्रयीके बारेमें छिड़े विवाद कि ''परमेश्वर ≡ (पुत्र/पिता/पवित्रात्मा)'' समीकरण सच्चा कि ''परमेश्वर ≡ (पुत्र•पिता•पवित्रात्मा)'' इन दोनों विकल्पोंमेंसे कौनसा प्रामाणिक है यह अतीव विवादास्पद विषय हो गया था. अर्थात् उक्तत्रयीमें परस्पर द्वैत होता है या शुद्धाद्वैत इस विवादमें सुस्पष्टतया देखा जा सकता है कि रोज़ेलीन प्रथम द्वैतवादी विकल्पकी वक़ालत करना चाहता होगा.

वाल्लभ वेदान्तमें घटमें घटत्वरूप धर्म तो प्रामाणिक प्रत्ययतया मान्य है, फिरभी नैयायिकोंको अभिमत **''नित्यत्वे सति अनेकसमवेत''**रूप पृथक् जातिपदार्थ या ऐसे प्रत्यय के रूपमें वह मान्य नहीं. न केवल इतना अपितु प्रस्थानरत्नाकरकारका तो यह सुस्पष्ट विधान है कि **''''जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः' इति षष्ठस्कन्धवाक्याद् जातेरपि कल्पनैकशरणत्वात्'.''**[४९] अतः यद्यपि इन्द्रियग्राह्य तो वस्तु या व्यक्ति ही होते हैं, जाति नहीं, इस विषयमें दोनों ही रोज़ेलीन तथा वाल्लभ वेदान्त सहमत हैं. फिरभी सदंश=जड़ चिदंश=जीव

आनन्दांश=अन्तर्यामी और सच्चिदानन्द अंशी=ब्रह्म यों अंशी पदार्थको वाल्लभ वेदान्त अप्रामाणिक नहीं मानता. इसी तरह प्लातो-अरिस्तोतल्को अभिमत आइडिया या प्रारूपात्मक प्रत्यय, वाल्लभ वेदान्तमें, जीवात्मनिष्ठ प्रमाज्ञानकी दृष्टिसे तो वस्तुनिष्ठ नहीं होते हैं. फिरभी जीवात्मचैतन्यके वह्न्ययोगोलकन्यायेन अन्तःकरणमें अभिव्यक्त होनेपर, वहां प्रकट होते सर्वज्ञ परमात्माके धर्मभूत ज्ञानांशोंमें रूपसृष्टिकी कारणभूता जो नामसृष्टि प्रकट होती है, तद्रूप होते हैं. एतावता रोज़ेलीन जिस जातिरूप सामान्य पदार्थको मिथ्या होनेके अर्थमें केवल नामरूप स्वीकारता है, उसी नामरूपताको वाल्लभ वेदान्त देशकालातीत पदार्थ होनेके रूपमें प्रमाणिक ही मानता है. यों दोनों मतोंके बीच गम्भीर मतभेद है.

एबेलार्ड (ई.१०७९-११४२) रोज़ेलीन्का विद्यार्थी रह चुका था, और किसी बड़े आदमीकी भतीजीसे ब्याहनेके अपराधवश खस्सी कर दिये जानेपर, दम्पती चर्चमें जा कर पादरी और पादरिन बन गये थे. एबेलार्डके अनुसार पवित्रशास्त्रके अलावा किसी भी व्यक्तिके, चाहे पादरियोंके हों या आद्य द्वादश धर्मदूतोंके, वचनोंका स्वतःप्रामाण्य नहीं होता. इसका ऐसा भी सोच था कि जब भी किसी विशेष्य उद्देश्य या पक्ष के बारेमें हम किसी विशेषण या विधेय या साध्य का विधान करते हैं, तब तत्तत्-शब्दवाच्यताका ही विधान करते होते हैं, ठोस किसी वस्तु या वस्तुनिष्ठ गुणधर्मका नहीं. अतः सारेके सारे सामान्यप्रत्यय केवल विकल्पवृत्तिगोचर शब्दार्थ होते हैं. वस्तुओंमें जो सादृश्य होता है बस उसीके कारण असमञ्जस सामान्यप्रत्यय हमारी बुद्धिमें पनप जाता है.[५०]

पुनश्च वाल्लभ वेदान्तकी तरह एबेलार्ड भी परमेश्वरके दिव्य मनमें प्रारूपकारणोंकी विद्यमानताका तो अस्वीकार नहीं करता था.[५१]

४.एन्स्लेम् (ई.१०३३-११०९) : यह कॅन्टर्बरीका आर्क्बिशप् था.

इसने रोज़ेलीन्की कड़ी आलोचना लिखी थी. इसके तथा पूर्वोक्त एबेलार्ड के लेखनके आधारपर ही रोज़ेलीन्के विचारोंके बारेमें आज कुछ हम जान पाते हैं. एन्स्लेम् मनुष्य व्यक्तिकी तरह मनुष्यताको भी एक पृथक् पदार्थतया स्वीकारता था. इसकी धारणा थी कि किसी मनुष्यको यदि चर्चके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त न भी समझमें आते हों तो भी बिना समझे भी उन्हें प्रामाणिकतया ही मान्य रखना चाहिये, क्योंकि विश्वासमूलक यथार्थज्ञान और यथार्थज्ञानमूलक विश्वास के बीच एबेलार्ड प्रथम कल्पको चर्चद्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तोंके सन्दर्भमें अधिक ग्राह्य मानता था.[५२]

चर्चवचनोंका प्रामाण्य तो नहीं परन्तु वेदादि शास्त्रोंके वचनोंके प्रामाण्यके बारेमें तो वाल्लभ वेदान्त भी इसी तरहका पक्षग्रहण करना पसन्द करेगा. अतः भ्रान्ति और प्रमा रूप ज्ञानके पार्थक्यकी विवेचनामें इस निकषका भी अपना एक अलग महत्त्व तो स्वीकारना ही पड़ता है. शास्त्रीय वचनोंके शाब्दबोधसे विपरीत पैदा होता प्रत्यक्षानुभव व्यवहारमे चाहे अबाधित भी लगता हो परन्तु परमार्थतया शाब्दप्रमासे बाधित होनेके कारण भ्रान्तिरूप ही होता है : **''वेदोक्ताद् अणुमात्रेऽपि विपरीतन्तु यद् भवेद् तादृशं वा स्वतन्त्रं चेद् उभयं मूलतो मृषा'.**''[५३] अस्तु.

५.सन्त थोमस् अक्वीना और जॉह्न् डन्ज् स्कॉटस् : ईसाईओंके उदयनाचार्य **सन्त थोमस् अक्वीना** (ई.१२२७-१२७४)के अनुसार जाति-व्यक्ति या सामान्य-विशेष का भेद वास्तविक होता है. विशेषमें सामान्यके अवस्थित होनेसे ही विशेष वस्तु अपने स्वरूपकी निर्वाहक हो पाती है. वृक्षके थड़ डाली पत्ते लम्बाई घेरा या रंग आदि वृक्षको वृक्ष नहीं बनाते, वृक्षत्व ही केवल एक ऐसा धर्म है, जो उसे वृक्ष बनाता है. वृक्षोंके अवान्तर प्रभेद उनके घटक द्रव्योंके भेदवश प्रकट होते हैं. इस सृष्टिमें जाति और द्रव्य एकदूसरेसे घुल-मिल कर ही रहते हैं. अतः विशेषता द्रव्यमूलक होती है और सामान्यता जातिमूलक.

वृक्षत्व परमेश्वरके मनमें विद्यमान रहता है जबकि वृक्षके उपादानभूत द्रव्य परमेश्वरने शून्यमेंसे सिरजे हैं. परमेश्वर नूतन-नूतन सामान्योंको नूतन-नूतन द्रव्योंसे योजित कर निरन्तर सृजनशील रहता है.[५४] सन्त थोमस् अक्वीना परमेश्वरके भीतर रहे ज्ञानका सद्वस्तुविषयक होना आवश्यक नहीं मानते हैं. उदाहरणतया कलाकार जो मूर्ति घड़ना चाहता है, उसका ज्ञान कलाकारके अन्तःकरणमें होता है परन्तु ज्ञानविषयीभूत मूर्तिका बाह्य जगत्में अस्तित्व नहीं होता. इसी तरह शून्यमेंसे सब कुछ प्रकट कर पानेके सामर्थ्यवान् परमेश्वरके ज्ञानका प्रामाण्य ज्ञेययाथार्थ्यपर आश्रित नही होता.[५५] सन्त थोमस् अक्वीनाके अनुसार प्रत्ययात्मक ज्ञान वास्तविक होता है और इन प्रत्ययोंका उत्स इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है, जिन्हें अन्तःकरण प्रत्ययात्मना घड़ लेता है. इसके अलावा अन्तःस्फूर्त ज्ञान भी होता है जो इन्द्रियजन्य ज्ञानसे श्रेष्ठ होता है. इसका उत्स या तो दैविकी प्रेरणा या दैविक आप्तवचन होते हैं.[५६]

यह अरिस्तोतल्के चिन्तनके साथ पवित्रग्रन्थोपदिष्ट द्वैतवादके समन्वयार्थ प्रकट हुवा चिन्तन है. अतएव हम देख सकते हैं कि परमेश्वर, पूर्णज्ञानी या पूर्णयोगी के त्रैकालिक वस्तुविषयक ज्ञानके स्वरूपके विचारवश, वाल्लभ वेदान्त जहां, किसी भी वस्तुकी कहीं-कभी असत्ता माननेके बजाय तिरोभावकी बात सोचता है, वहीं वैसी ही स्थितिमें सन्त थोमस् अक्वीना उसी हेतुके आधारपर परमेश्वरके सर्वसामर्थ्यकी उपपत्ति खोजते हैं. भगवान्के कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यके वश किसी देश-कालमें स्वानुभूतिनिरपेक्षतया प्रकट न हुयी किसी वस्तुके प्रतिभासको उत्पन्न करनेकी परमेश्वरमें निरंकुशसामर्थ्य तो वाल्लभ वेदान्तमें भी मानी ही गयी है. ज्ञानैकरस ब्रह्मके, परन्तु, अखण्डाद्वैतमें निखिल ज्ञेयोंका प्रादुर्भाव स्थिति और प्रलय रूपी तीनों ही अवस्थाओंमें मौलिक ज्ञानरूपताके विकृत हुवे बिना भी ज्ञेयात्मना परिणति, ज्ञेयात्मना स्थिति; और, ज्ञेयात्मना प्रलीनता स्वीकारी गयी हैं. अर्थाद् अविकृतपरिणामवादकी प्रक्रियाके अनुरोधवश जो भी वस्तु है वह या तो अपने मूल स्वरूपमें ज्ञानात्मना

ब्रह्ममें अवस्थित है या प्रकट ज्ञेयात्मना भी. अतः परमेश्वरके ज्ञानको न तो असद्वस्तुविषयक और न अयथार्थ ही माननेको वाल्लभ वेदान्त उद्यत होता है. अतएव सन्त थोमस् अक्वीनाके मतमें भ्रान्तिके अभिमत स्वरूपकी व्याख्या करते समय भी दोनों ही सिद्धान्तोंकी साधारण चौखटमें ही कुछ सोच लेना उचिततर होगा.

सन्त थोमस् अक्वीनाके मतके विपरीत **जॉह्न् डन्ज् स्कॉटस्** (ई.१२६५-१३०८)का मानना है कि चर्चके किसी भी सिद्धान्तकी तार्किक उपपत्ति शक्य ही नहीं, क्योंकि वे तर्कसे अगोचर तथा अविरुद्ध सिद्धान्त हैं. व्यक्ति या विशेषवस्तु से सम्बन्धी सन्त थोमस् अक्वीनाकी धारणाओंसे भी वह सहमत नहीं हैं कि वे घटक द्रव्योंके भेदवशात् भिन्न होते हैं. जॉह्न् डन्ज् स्कॉटस्के अनुसार द्रव्यके कारण नहीं प्रत्युत अपनी विशेषताके कारण व्यक्तिभेद अवगत होता है और उसमें संवलित प्रारूपके कारण सामान्यका बोध प्रकट होता है. प्रत्येक वस्तुमें दोनों मिश्रित रहते हैं. केवल परमेश्वर ही एक द्रव्यरहित शुद्ध प्रत्यय या प्रारूप होता है.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य भी अतएव कहते हैं कि **''यदि कोई सोचे कि शास्त्रचिन्तनको सफल बनाने (वेदके वचनोंमें अन्तर्विरोधके परिहारार्थ) कोई वेदानुसारिणी युक्ति तो देनी ही चाहिये, परन्तु ऐसा सोचना भी उचित नहीं, क्योंकि वेदार्थमें विरोध ही नहीं सोचना चाहिये. स्वभाव और दर्शन के अलावा, क्योंकि, अन्य कोई युक्ति अन्तमें टिक नहीं पाती'.''**[५७] अतएव ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रय होनेके स्वभाव और श्रुत्येकसमधिगम्य होनेके प्रामाण्यवश यथोक्तस्वीकारके लिये सर्वदा सन्नद्ध रहना चाहिये.

(६)**ईसाई सम्प्रदायके भीतर छिपी चिनगारीके जैसा विद्रोही चिन्तन :**

एस ई फ्रॉस्ट कहते हैं कि ग्यारहवीं शताब्दिके रोज़ेलीन्के द्वारा

जाति/सामान्य पदार्थकी वास्तविकताको अमान्य कर देनेके काफी वर्षोंके बाद (चौदहवीं शताब्दिमें) ऑक्कॅम्के विलियम्ने खुल कर यह कहना शुरू किया कि विशेष विषय या वस्तु ही केवल सत्य होते हैं, क्योंकि जगत्में वे ही इन्द्रियगोचर होते हैं. आइडिया प्रत्यय सामान्य/जाति तो हमारे केवल विचाररूप होते हैं.[५८]

इस तरह व्यक्ति या जाति, विशेष या सामान्य; अथवा इन्द्रियगोचर या बुद्धिगोचर में से दोनों ही सत्य होते हैं, दोमेंसे कोई एक सत्य और दूसरा असत्य; अथवा दोनों ही अविश्वसनीय, यों इन विकल्पोंका उभरना अब प्रासंगिक हो गया था. अपने पश्चिमी दर्शनके इतिहासमें बर्ट्रेंड् रसेल कहते हैं कि **''क्या कोई ऐसी बाह्य वस्तु हो सकती है कि जिसके बारेमें हम कुछ सोच पाते हों? अर्थात् क्योंकि हम सोच पाते हैं अतः हमारी बुद्धिके बाहर भी उसका अस्तित्व होना ही चाहिये क्या? प्रत्येक दार्शनिक इस प्रश्नके उत्तरमें 'हां' कह देना पसन्द करेगा. क्योंकि दार्शनिकका तो काम ही बैठे-बैठे सोच कर जगत्के तथ्योंको जाननेका होता है, बजाय कि निरीक्षण करनेके. यह यदि सच हो तो हमारे शुद्ध विचारों और तथ्यों के बीच कोई ऐसा सेतु भी स्वीकारना पड़ेगा जो हमें सत्य तक पहुंचा पाता हो. यदि नहीं तो ऐसा सेतु भी सम्भव नहीं रह जायेगा'.'** [५९] मुझे लगता है कि दार्शनिक और वैज्ञानिक चिन्तनके दो महाद्वीपोंके बीच दृष्टिभेदका यह एक लहराता हुवा महासागर है. किसी भी तथ्यको प्रत्यक्षगोचर निरीक्षण-प्रयोगद्वारा खोजना या निरीक्षण-प्रयोगरहित निर्मीलितनेत्रोंके साथ किये गये चिन्तनद्वारा! इस तरहकी भेददृष्टिमें कहीं न कहीं निर्विकल्प प्रत्यक्षके ही केवल प्रमाण होनेका तथा सविकल्पक प्रत्यक्षके केवल कल्पनारूप होनेका पूर्वाग्रह काम करता होता है. अन्यथा प्रत्यक्षके प्रामाण्यपर अतिनिर्भरता अथवा विचारोंके प्रामाण्यपर अतिनिर्भरता के दो अन्तिम छोरोंमेंसे किसी एकपर अत्यवलम्बित होनेके बजाय दोनोंमें परस्पर संवादिताके प्रामाण्यपर अवलम्बित होनेकी

समन्वयकारिणी मनःस्थिति भी बनायी तो जा ही सकती है.

१.ओक्कॅम्के विलियम् (ई.१३००-१३५०) : इस चिन्तकने कल्पना-/उत्प्रेक्षामें लाघवको गुण और गौरवको दोष माननेके आग्रहको प्रस्तुत करके जिस किसी एक प्रत्यय या धारणा को सत्यतया स्वीकारनेसे अनुभूत वस्तु या तथ्य की व्याख्या शक्य हो तो उसके अलावा अन्य किसी प्रत्यय या धारणा के प्रामाण्यको अस्वीकार्य मान लेनेका सिद्धान्त प्रस्तुत किया. वह, अतएव, विशेष वस्तुओं या विषयों को ही सत्य मानता था. इन्द्रियगोचर जगत्को भी वह सत्य मानता था. इसके विपरीत आइडिया प्रत्यय या सामान्य को तो वह किसी एकरूपतया अनेक वस्तुओंको पहचाननेकी मनकी कल्पनामात्र मानता था. अतः विशेषव्यक्ति या विशेषवस्तु के इन्द्रियसाक्षात्कारमें गृहीत होती विशेषताके प्रत्ययमें लाघव गुण होनेकी वक़ालत करके दार्शनिक चिन्तनमें बुद्धिग्राह्य होते सामान्यको अब गौरवग्रस्त मान लिया गया. बुद्धिगोचर सामान्यकी उपेक्षा करनेकी प्रेरणाद्वारा अब वैज्ञानिक चिन्तनको ज्ञानकी एक नूतन विधाके रूपमें पुरस्कृत कर देनेका मार्ग प्रशस्त हो गया!

२.गेलेलिओ और आईज़ेक् न्यूटन् : गेलेलियो (ई.१५६४-१६४२) दिमॉक्रितस्के सिद्धान्तसे प्रभावित था और यह मानता था कि जगत्में अनुभूत होते सारेके सारे परिवर्तन उसके घटक अंशों या परमाणुओं की गतिशीलताके वश होते हैं. गणितशास्त्रीय पद्धतिके अनुसार अपनी चिन्तनप्रक्रियाको विकसित करके समग्र विश्वकी व्याख्या गणितशास्त्रीय पद्धतिके अनुसार करता था. इस दिशामें आगे बढ़ते हुवे **केप्लर** (ई.१५७१-१६३०) और **आइज़ेक् न्यूटन्** (ई.१६४२-१७२७) ने भूकेन्द्रवादको ठुकरा कर सूर्यकेन्द्रवाद प्रस्थापित किया.[६०] वैज्ञानिक निरीक्षण या प्रयोगों से अवगत होते विषयोंके बारेमें गेलेलियो किसी आप्तवचन या रहस्यवादिचिन्तन का प्रामाण्य स्वीकारने उद्यत नहीं था. अतएव

व्याप्तिनियमद्योतक सामान्य विधानों या प्रत्ययों का प्रामाण्य भी उसे वैज्ञानिक निरीक्षण या प्रयोग पर आश्रित होनेपर ही मान्य था.[६१]

भूकेन्द्रवादकी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमिके रूपमें मनुष्यके अचेतन मनके भीतर भरे आत्मकेन्द्रवादी पाश्चात्य अहंकारको इस सूर्यकेन्द्रवादके कारण करारी चोट पहुंची. भारतमें तो एक ब्रह्माण्ड नहीं प्रत्युत असंख्य ब्रह्माण्डोंकी धारणा धर्मरूढ़िसे ही सिद्ध थी. अतः अनेक ब्रह्माण्डोंके बीच अपनी इस एक भूमिको ले कर भूकेन्द्रवादी भारतीय मनोवृत्तिको उतनी उद्विग्नताका शिकार बननेका प्रसंग ही नहीं उठ पाया.[६२] अन्यथा चारों ओर फैले इस असीम दृश्यविस्तारमें अपने द्रष्टा तथा चिन्तक होनेके आत्मगौरवको मनुष्य एक दुरभिमानके रूपमें विकृत भी बना सकता है, जब वह ऐसा सोचने लग जाता है कि यह सारा दृश्यविस्तार मेरी कल्पनासे प्रसूत है! किम् आश्चर्यम् अतः परम्? क्योंकि इस दृश्यविस्तारकी असीमता और कल्पितता दोनों ही एक साथ तो स्वीकारी नहीं जा सकती हैं, 'असीमतया कल्पित' रूप प्रत्ययके स्वतोव्याहत होनेसे. हमारी अनुभूति या कल्पनाशक्ति की परिधिमें न आनेके कारण ही तो कहीं-कभी हमें असीमताका बोध होता होनेसे. तो भूकेन्द्रवादकी यह वैचारिक दुर्गति कभी न कभी तो होनी ही थी!

पवित्रग्रन्थसे विरुद्ध किसी भी तरहकी तार्किक उत्प्रेक्षाओंको कठोरतया दण्डित कर-करके एक ओर चर्चने अपनी ही कमजोरियोंको उजागर कर रखा था तो दूसरी ओर निरीक्षण-प्रयोगोंपर अनिर्भर शुष्क चिन्तनोंके अनिश्चायक मतभेदोंने उनपर भी मनुष्यका विश्वास क्षीणतर बना रखा था. ऐसी स्थितिमें वैज्ञानिक चिन्तनके नये मोड़की चकाचौंध यदि अनास्थाको जन्म नहीं देती तो सचमुचमें एक विस्मयजनक बात होती. परन्तु जो द्वैत धार्मिक आस्थासे प्रसूत प्रत्यय और अनिरीक्षित-अप्रयोगार्ह चिन्तनसे प्रसूत प्रत्यय के बीच अब तक माना जाता रहा, वही

द्वैत अब निरीक्षण-प्रयोगमूलक चिन्तनप्रसूत प्रत्यय और शुद्धबुद्ध्याश्रित चिन्तनप्रसूत प्रत्ययोंमें भी देखा जाने लगा. यों स्वभावसिद्ध पूर्वाग्रह रूपान्तरित हो गया! यद्यपि इस समय भी और इसके बाद भी कोई-कोई शुद्धाद्वैतवादी होते ही रहे परन्तु उस इतिहासके सिंहावलोकन करनेको हमें आगे बढ़ना पड़ेगा.

२.कूसाका निकोलस्, जिओर्दानो ब्रूनो और तोमासो काम्पेनेल्ला : इनमें प्रथम **कूसाके निकोलस्** (ई.१४०१-१४६४) के अनुसार यह सृष्टि अंशात्मना विभक्त स्वयं परमेश्वर है. सारे विभागोंको जोड़ कर सोचनेपर उसके परमेश्वर होनेकी बात समझमें आ सकती है. प्रत्येक अंश या विभाग परमेश्वरका ही अंशात्मक विभाग है परन्तु परमेश्वर प्रत्येक विभागमें विद्यमान रहता है.[६३] निकोलस्के अनुसार ज्ञानके चार स्तर होते हैं[६४] :

> १.इन्द्रियजन्य ज्ञान और तत्सम्बद्ध कल्पना, ये दोनोंही भ्रमबहुल होते हैं.
>
> २.सहेतुक बोध, जो विश्लेषण, देशकालवर्तिता, संख्याकीय प्रक्रिया और किसी पदके किसी व्यक्तिमें शक्तिग्रहण तथा अव्याघातनियमोंका अवलम्बन करते हुवे परस्पर विरुद्ध वस्तुओं या गुणधर्मों को भिन्नतया दरसाता है.
>
> ३.उत्प्रेक्षात्मक तर्क जो परस्पर विरुद्धतया भासित होती वस्तुओंमें अविरोधसम्पादनक्षम होता है.
>
> ४.सर्वोत्कृष्ट ज्ञान तर्कातीत अन्तःस्फुरणात्मक होता है. यहां सारे विरोधोंका एक अविरुद्ध आश्रय अधिगत हो जाता है.

इस अन्तःस्फूर्त ज्ञानके आधारपर ही यह समझमें आ पाता है कि सहानवस्थायी विरुद्ध वस्तु या गुणधर्म किसी एक परम तत्त्वको अपना अविरुद्ध आश्रय (coincidentia oppositorum) बना सकते

हैं. इस अन्तःस्फूर्त बोधके आधारपर प्रकट होते अधीत अज्ञानद्वारा ही उसके बारेमें वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो पाता है. ''**सभी कुछ सभीमें हैं, क्योंकि सभी कुछ जो जगत्में है, वह परमेश्वरमें है**''.[६५]

जिओर्दानो ब्रूनो (ई.१५४८-१६००)के अनुसार यह जगत्, *मोनाइस्*, जो अजात एवं अविनाशी होते हैं, उनसे घड़ा हुवा है. ये अंश परस्पर संहत हो कर अनेकविध शरीरों और वस्तुओं को प्रकट करते हैं. यह सृष्टिको द्रव्य और प्रत्यय के परस्पर मिश्रणतया प्रकट मानता था. अतः परिवर्तन जो होता है वह द्रव्यके एक रूपको छोड़ कर दूसरे रूपके परिग्रहके कारण होता है. अंशी, जबकि, अपरिणामी ही रहता है.[६६]

तोमासो केम्पानेल्ला (ई.१५६८-१६३९) भी प्रकृतिको परमेश्वरकी अभिव्यक्ति मानता था. सारे जगत्को वह परमेश्वरसे व्युच्चरित हुवा मानता था, निरपवादतया, वह चाहे आइडिया हो, या स्पिरिट्स्, या अमर्त्य मानवीय आत्मा, या अवकाशदेश हो या शरीर. यह सृष्टि परमेश्वरकी निर्माणशील गतिविधिका परिणाम है, ऐसी उसकी धारणा थी.[६७]

स्पष्ट है कि इन चिन्तकोंकी विचारधारामें वाल्लभ वेदान्ताभिमत शुद्धाद्वैतकी छबी बराबर झलक ही रही है. अतएव भ्रान्तिके बारमें ये कुछ अन्य प्रकारकी धारणा रखते होंगे, ऐसा सोचना कठिन लगता है.

इन चिन्तकोंके बाद यूरोपीय चिन्तनमें एक तरहका पुनर्जागरण अर्थात् मध्यकालीन चर्चसंस्थाको अप्रतिकूल हो ऐसे ही चिन्तन करते रहनेकी पराधीनतासे मुक्ति पा लेनेकी मनोवृत्तिका काल माना गया

है. सभीने निःशंक हो कर, चर्च और सेनेगॉग द्वारा किये गये घोर विरोधोंके बावजूद, कभी प्रकटतया तो कभी छद्मतया भी यथोचित प्रतीकार किया . अपने चिन्तनपर किसी भी तरहके अंकुशको स्वीकारनेकी मनोवृत्तिसे अन्तमें छुटकारा पा ही लिया. इस पुनर्जागरणकालके चिन्तकोंमें फ्रान्सिस् बेकन् और थोमस् होब्स् प्रमुख हुवे.

(७)पुनर्जागरणकालका नूतन चिन्तन :

इस कालके नूतन चिन्तनकी लाक्षणिक विशेषताको, बर्ट्रेंड रसेल्, असाम्प्रदायिक या अपारम्परिक वैयक्तिक चिन्तन ही नहीं अपितु वैयक्तिक बोधपर अवलम्बित चिन्तनके रूपमें भी देखना चाहते हैं.[६७] इमानुएल् कान्ट्से पूर्वभावी चिन्तनमें तार्किकवाद, आनुभविकवाद, मोनाड्वाद, काल्पनिकवाद और आनुभविकवादमूलक सन्देहवाद प्रमुखतया प्रवर्तित हुवे. वैसे देकार्तेको नूतन दर्शनका पिता माना जाता है परन्तु इसी कालके फ्रान्सिस् बेकन् और थोमस् हॉब्बस्, ये दोनों ही देकार्तेसे वयसा ज्येष्ठ थे.

१.फ्रान्सिस् बेकन् और थोमस् हॉब्बस् : आनुभविकवादके प्रवर्तक **फ्रान्सिस् बेकन्** (ई.१५६१-१६२६)ने धर्म और दर्शन को सर्वथा एक-दूसरेसे पृथक् माना. बेकन्के अनुसार भ्रान्तिज्ञानके स्रोतों या हेतुओं को जाने बिना कभी सफल चिन्तन सम्भव नहीं और आकस्मिक साहचर्य और नियत साहचर्य के विवेकके बिना घड़ लिये जाते सामान्य नियम या प्रत्यय प्रायः भ्रान्तिज्ञानके हेतु बनते ही हैं. बेकन्का सोचना था कि ''**निश्चित ज्ञानके खोजिओंको वाचक शब्दोंका त्याग कर स्वयं वाच्य प्रकृतिको हमारे प्रश्नोंके उत्तर देनेको बाधित करनेकी कला सीखनी पड़ेगी**''.[६८] बेकन्के अनुसार ज्ञानको बरगलानेवाली ये चार मोहकमूर्तियां होती हैं :

१.idola theatri अपने स्वयंके चिन्तनके बजाय अन्य

किसी आप्त पुरुष या परम्परा का प्रामाण्य बलवत्तर मानना.

२.idola fori बोलचालकी भाषामें प्रयुक्त होते शब्दों या विधानों के आधारपर तत्त्वके वास्तविक स्वरूपको जाना जा सकता है, ऐसी मनोवृत्ति.

३.idola specus सादृश्य या वैसादृश्य के वैयक्तिक प्रत्ययोंके आधारपर पनपती प्राग्धारणाओंपर अवलम्बित हो कर तत्त्वनिश्चय शक्य मान लेनेकी वृत्ति.

४.idola tribus मनुष्यकी सीमित इन्द्रियसामर्थ्यके कारण पैदा होते भ्रम जो वैज्ञानिक उपकरणोंके निर्माणद्वारा निरसनीय होते हैं; अथवा, मनुष्य क्योंकि सोद्देश्य क्रियाओंमें तत्पर होता है, अतः कार्य-कारणात्मना जुड़ी क्रिया या पदार्थों में भी किसी न किसी तरहकी सप्रयोजनता खोज लेनेकी मनोवृत्ति.[६९]

अनुमानकी निगमनात्मक प्रक्रियामें उपनयात्मिका अनुमिति आधारभूत होती है. अतः सादृश्यमूलक या वैसादृश्यमूलक व्याप्तिग्रहण कैसे प्रामाणिकतया शक्य बनता है, इस बारेमें बेकनूने गम्भीर विचार किया. वह विशेषवस्तुओं और उनके व्यावहारिक नियमों को तो स्वीकारता था परन्तु सामान्य प्रारूप या जाति जैसे स्वतन्त्र पदार्थ उसे स्वीकार्य नहीं थे. एस्.ई.फ्रॉस्ट्के अनुसार इस तरह उसने पुरातन यूनानी और मध्यकालीन साम्प्रदायिक चिन्तनको पीछे छोड़ कर आधुनिक विज्ञानकी दिशामें अपने चरण बढ़ा दिये थे.[७०]

थोमस् हॉब्बस् (ई.१५८८-१६७९)का चिन्तन गणितशास्त्रीय शैलीको अनुसरनेवाला तथा भौतिकवादी था. उसके अनुसार यह जगद् अवकाशात्मक देशमें गतिशील द्रव्योंके संघातके बनते और बिगड़ते रूपोंका अकस्मात् है. हॉब्बस्के अनुसार जो भी कुछ है वह या तो द्रव्यात्मक प्राकृत संघात होता है या कृत्रिम संघात होता है अथवा उनकी गति.

उत्पत्ति और विनाश दोनों ही गतिशील द्रव्योंके एक-दूसरेसे अकस्मात् टकरा जानेके कारण घटित होनेवाली प्रक्रिया हैं. यद्यपि सृष्टिके आरम्भमें द्रव्योंको गतिशील बनानेवाला परमेश्वर था परन्तु सृष्टि बन जानेके बाद वे अकस्मात् ही आपसमें टकरा कर विनष्ट या उत्पन्न होते रहते हैं. ऐसे ईश्वरवादी और भौतिकवादी दोनों ही दृष्टियां उसके चिन्तनमें झलकती हैं.[७१] विचार, हॉब्बस्के अनुसार, संकलना और उसके प्रतीकरूप शब्दोंके अलावा अन्य कुछ भी नहीं होते, जिनका हम प्रयोग करते हैं. उदाहरणतया वास्तविक सिक्कोंके बजाय रंग-बिरंगी टिकियोंको गणक बना कर कई खेल खेले जाते हैं. रुपयोंके एवज़में रुपयोंका काम तो इन टिकियोंसे निकाला जा सकता है, एतावता स्वयं इन्हें कोई रुपया समझ ले तो, वह तो मूर्खतापूर्ण भ्रम ही माना जायेगा. इसी तरह भाषा या शब्द भी विशेष व्यक्ति या वस्तु के बारेमें मनुष्यने, गणकोंके जैसे, घड़े कृत्रिम प्रतीक होते हैं. इनका वास्तविक जगत्से कोई सम्बन्ध नहीं होता.[७२] हॉब्बस्के अनुसार अन्तःकरण भी सूक्ष्म द्रव्योंका ही एक गतिशील संघात है. चेतनात्मक क्रियाकलाप उन सूक्ष्म द्रव्योंकी गतिशीलताके कारण उत्पन्न एक क्रिया है. अथवा उपद्रव्यान्तरवाद (Epiphenomenalism) का भी सहारा ले कर वह कभी तज्जन्य प्रभाव भी उन्हें मानता है.[७३]

बेकनूद्वारा निरूपित चार मोहकमूर्तियोंका जहां तक प्रश्न है तो वाल्लभ वेदान्त स्वयंको तत्त्वचिन्तनार्थ प्रवृत्त हुवा नहीं मानता प्रत्युत शास्त्रव्याख्यानार्थ प्रवृत्त हुवा मानता होनेसे, प्रथम मूर्तिको मोहजनक माननेके बजाय, मनोमोहिका मूर्तिके रूपमें स्वीकार कर मूर्तिके ही व्याख्यानको अपने चिन्तनका प्रयोजन मानता है. अवशिष्ट तीन मूर्तियोंके बारेमें भी मोहभीति रखने या असाधारण मोह पालने के दुराग्रहोंसे बचना चाहेगा. वैसे इन दोनों चिन्तकोंकी भ्रान्तिके बारेमें क्या धारणायें होंगी, यह इदमित्थतया कह पाना कठिन काम है. फिर भी जगत्को सत्य मानते होनेके कारण अनिर्वचनीयख्याति या आत्मख्याति की धारणायें

तो अवश्य ही इन्हें मान्य नहीं होंगी. इसी तरह दृष्टिगोचर रूपभेदों नामभेदों तथा कर्मभेदों के बीच एकत्वाधायक किसी एक पदार्थके अस्वीकृत होनेसे सत्ख्याति, अख्याति या अन्यख्याति की धारणाओंका भी मान्य होना शक्य नहीं लगता. वैसे ही प्रारूप/सामान्य/जातिरूप पदार्थकी भी अस्वीकृतिके कारण नैयायिकोंको अभिमत अन्यथाख्याति भी सम्भव नहीं लगती. परिशेषतया माध्वाभिमत अन्यथाख्याति अथवा बाह्यार्थवादी बौद्धोंको जिस तरहकी ख्याति मान्य रही होगी, वैसा ही कोई स्वरूप भ्रान्तिका इन दोंनों चिन्तकोंको भी मान्य होना चाहिये, ऐसा अनुमान किया जा सकता है. बौद्धोंकी तरह ही "**कल्पनापोढम् अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्**" हॉब्बस्को तो अवश्य ही सर्वथा मान्य लगता है. परन्तु ज्ञानको शब्दजन्य विकल्पोंकी कल्पनासे रहित होनेपर ही प्रामाणिक माननेके बाद भी निर्विकल्पज्ञानको "**सहोपलम्भनियमाद् अभेदो नीलतद्धियोः**" सिद्धान्तके मान्य होनेके कोई वैचारिक संकेत यहां मिलते नहीं हैं.

२.देकार्ते, स्पिनोज़ा एवं माल्ब्राँ : बर्ट्रेंड् रसेल्का कहना है कि यूनानी दार्शनिक और देकार्ते के बीचमें हुवे सभी चिन्तक अपनी व्यावसायिक श्रेष्ठताके बावजूद केवल अध्यापक ही थे. देकार्ते, किन्तु, जो कुछ लिखता है वह दर्शनाध्यापककी हैसियतमें नहीं प्रत्युत एक अन्वेषक और खोजी की तरह वह औरोंको यह बताना चाहता है कि उसने क्या खोजा.[७४] देकार्तेद्वारा पथ प्रशस्त किये जानेपर अन्य भी चिन्तक इसी विचारशैलीको अपनाते हुवे चिन्तनमें परायण हुवे. इस अर्थमें देकार्ते नूतन चिन्तनशैलीका जनक सिद्ध होता है.

रेने देकार्ते(ई.१५९६-१६५०) अपने चिन्तनका प्रारम्भ सर्वग्रासी सन्देह (de omnibus dubitandum)के साथ करते हैं : परमेश्वर, बाह्य जगत्, स्वयं अपना शरीर, उससे सम्पन्न होती क्रिया ही नहीं अपितु आन्तरिक क्रियाओं का भी अस्तित्व स्वप्नके समान क्यों एक मिथ्या अनुभूति नहीं हो सकती है?

फिर भी जाग्रत्कालीन आत्मबोधकी बात तो जाने दो स्वप्नकालीन आत्मबोध भी, देकार्तेके अनुसार, सन्दिग्ध नहीं हो सकता. क्योंकि सन्देहव्यापारको सम्पन्न करनेवालेका अस्तित्व (cogito ergo sum) सन्देहव्यापारमें भी भासित तो होता ही है. अतः आत्मास्तित्वको सन्दिग्ध मानना उसे स्वतोव्याहत लगता है. अतः आत्मास्तित्व सन्देहानर्ह (sum cogitans) होता है. यह जैसे सन्देहानर्ह होता है, वैसे ही और भी कोई बोध हो सकता है या नहीं? जैसे आत्मास्तित्वका बोध एक स्पष्ट प्रत्यक्ष (clara et distincta perceptio) होता है, वैसा ही बोध हमें स्वयम्भू परमेश्वर (causa sui)का भी होता है. क्योंकि अपने आत्मबोधमें हमें अपनी अपूर्णताका जो बोध होता है, वह पूर्णताके बोध बिना शक्य नहीं. अतः यह बोध हमारे भीतर अन्य किसीके द्वारा स्थापित होना चाहिये. यदि हम स्वयं इसके कारण होते तो अपूर्णके बजाय अपने-आपको पूर्ण क्यों नहीं बना लेते? अतः इसके स्थापकतया परमेश्वरका अस्तित्व सिद्ध होता है. परमेश्वरसे उसके अस्तित्वको पृथक् सोचनेपर, अर्थात् किसीके द्वारा प्रदत्त सत्ताके वश उसे अस्तित्वशाली माननेपर, वह भी हमारी तरह एक अपूर्ण ही सिद्ध होगा. हमारे भीतर भरे पूर्णता और अपूर्णता के प्रत्ययोंका उत्पादक नहीं. इस तरह वह अपरिच्छिन्न दैविक पदार्थरूप परमेश्वर (substantia infinita sive deus), परिच्छिन्न विचारशील पदार्थ मानवीय जीव(substantia finitia cogitana sive mens) और साकार देशवर्ती जड़ पदार्थ(substantia extensa sive corpus) रूपी त्रिकका पृथक्-पृथक् अस्तित्व देकार्ते स्वीकारता है. इन्द्रियग्राह्य गुणोंको, यह चिन्तक, जड़द्रव्यका स्वाभाविक गुणधर्म नहीं मानता परन्तु बुद्धिग्राह्य देशवर्तिताको ही जड़द्रव्यका स्वाभाविक गुणधर्म मानता है. इससे यह भी लगता है कि देकार्ते भी सम्भवतः बाह्यार्थानुमेयवादी होगा.

देकार्ते बोधके स्वरूपकी विवेचनामें कहता है : १.बाह्येन्द्रियजन्य ज्ञान, २.साहजिक भूख, ३.आवेग शारीरक तथा मानसिक, ४.अनुभूतविषयजन्य

स्मृति और इच्छाजन्य कल्पना, ५.बुद्धि या सहेतुक चिन्तन, और ६.इच्छा, इन सब क्रियाकलापोंसे आत्मा सम्पन्न रहती है. देकार्तेके अनुसार आइडियाओंके तीन प्रभेद होते है : १.अन्तर्निहित, २.संकल्पोत्थ और ३.तथ्योत्थ. इनमें प्रथम परमेश्वरद्वारा हमारे भीतर स्थापित होते हैं, अर्थाद् अनुभवजन्य नहीं होते. द्वितीय हम अपने आन्तरिक संकल्पोंसे पैदा करते हैं. तृतीय बाह्य या आन्तर विषयोंके बारेमें तथ्यावगाही आइडिया होते है. बाह्य विषयसे भीतर जन्य ज्ञान जननक्रियाके कर्मरूप होते हैं. जबकि आत्मजन्य आन्तरिक इच्छाजन्य ज्ञान बाह्य क्रियाके जनक होते हैं.[७५] जड़, जीव और परमेश्वर के त्रैतवादी इस चिन्तनमें, रिचाई फाल्कन्बर्गके अनुसार, भ्रान्ति स्वयं मनुष्यको दैवप्रदत्त ज्ञानसामर्थ्यके दुरुपयोगके वश होती है.[७६]

यह तो कारणमीमांसा हुयी. भ्रान्तिके स्वरूप और विषय की मीमांसा, किन्तु, स्पष्ट शब्दोंमें मिलती नहीं है. हर सूरतमें अन्यथाख्याति या विपरीतख्याति का ही कोई प्रकार देकार्तेको मान्य होगा ऐसा सोचनेमें कोई आपत्ति तो नहीं दिखलायी देती.

बारुक् स्पिनोज़ा (ई.१६३४-१६७७)का मत महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके मतसे घनिष्ठ साम्य रखता है. महाप्रभुप्रवर्तित पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनाका आधारभूत दर्शन साकारब्रह्मवाद या शुद्धाद्वैतवाद है. इसमें एकमेवाद्वितीय परमतत्त्वके विभिन्न पहलुओंके बीच रहे तादात्म्यके अन्तर्भूत पांच प्रभेदोका विशेष महत्त्व है, क्योंकि भक्तिका अभीष्ट स्वरूप इन्हीं प्रभेदोंपर ही अवलम्बित है. उस परमतत्त्वका प्रथम पहलु है उसका [क]ब्रह्म होना. अर्थात् देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित सच्चिदानन्द होना. इस पहलुसे वह सर्व नाम-रूप-कर्मोंका उपादान बनता है.[७] द्वितीय पहलु है उसका [ख]परमात्मा होना. इस पहलुमें वह चराचर जगत्का अन्तर्यामी बनता है.[८] ये दोनों ऐसे पहलु हैं कि जहां स्पिनोज़ा और महाप्रभु के बीच सर्वथा मतैक्य है.[७९] इनके बाद [ग]भगवान् [घ]श्रीकृष्ण और [ङ]भक्तके

निजाराध्य सेव्यस्वरूप° यों इन तीनों पहलुओंके बारेमें स्पिनोज़ाको तीव्र मतभेद होगा ही. वह पुरुषाकारक या पुरुषस्वभाववाले (anthropomorphic) परमेश्वरको स्वीकारने कथमपि उद्यत नहीं.[८१] इसमें हेतु स्पष्ट है कि महाप्रभुका चिन्तन भगवद्गीता-भागवतपुराणको न केवल प्रमाणतया स्वीकार कर आगे बढ़ता अपितु उनकी व्याख्याके रूपमें ही प्रकट हुवा है.[८२] जबकि स्पिनोज़ाका चिन्तन यहूदी-ईसाईओंके पवित्रग्रन्थोंके प्रामाण्यसे न तो प्रतिबद्ध है और न उनकी व्याख्याके ही रूपमें प्रकट हुवा चिन्तन.[८३] यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि तो भी शास्त्रवचनोंकी व्याख्या कैसे करनी इस बारेमें दोनोंके मतोंमें अतीव एकरूपता है. अन्तर यही है कि महाप्रभुके मतमें वेदादि शास्त्रोंका प्रामाण्य सर्वोपरि है. अतः उनके वचनोंके यथाश्रुतार्थके व्याख्यान करनेका आग्रह वे रखवाना चाहते हैं. अन्य किसी प्रमाणकी तुलनामें उसे गौण मान कर वचनोंके मुख्यार्थका त्याग महाप्रभु उचित नहीं मानते.[८४] ऐसी ही व्याख्यानीतिके आग्रह रखनेमें स्पिनोज़ाका हेतु यह है कि ग्राह्य धर्मोंके सदुपदेशपरक पवित्रग्रन्थोंको सामान्यतया उपादेय माननेके बावजूद तात्त्विक विषयोंके स्वरूपनिर्धारणार्थ वह उन्हें बहोत विश्वसनीय नहीं मानता. अतः यथाश्रुत वचनोंके गौणार्थमूलक व्याख्यानोंद्वारा उनमें दार्शनिक गरिमा खोजना वह अनावश्यक मानता है.[८५]

इसी तरह ज्ञानमीमांसामें भी दोनों ही मतोंमें पर्याप्त साम्य है, यथा, वाल्लभ वेदान्तमें [१]प्रत्यक्ष तो स्पिनोज़ाके मतमें [१]बुद्ध्यनालोचित अबाधित प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है. वाल्लभ वेदान्तमें [२]ज्ञानकरणक ज्ञानरूपा अनुमिति तो स्पिनोज़ाके मतमें भी [२]कार्यसे कारण अथवा सामान्य गुणधर्मके आधारपर विशेष गुणधर्मोंकी अनुमितिको प्रमाण माना गया है. वाल्लभ वेदान्तमें [३]शब्द/ऐतिह्य तो स्पिनोज़ाके मतमें भी [३]आप्तजनोंके वचनोंको ज्ञानके जनकतया स्वीकारा गया है. चतुर्थ वाल्लभ वेदान्तमें जहां [४]श्रुत्यादि शास्त्रोंका प्रामाण्य सर्वोपरि माना गया है वहां स्पिनोज़ाके मतमें [४]वस्तुके तात्त्विक स्वरूपके प्रत्यय अथवा उसके प्रामाणिक

हेतुके ज्ञानवश होते ज्ञानका प्रामाण्य सर्वोपरि माना गया है.[८६]

दि एथिक्स् के द्वितीय परिच्छेदमें विधा.१७ के प्रमाणकी टिप्पणीसे प्रारम्भ कर परिच्छेदके अन्ततक स्पिनोज़ाने भ्रान्तिज्ञान और प्रमाज्ञान के तारतम्यकी भी सुविशद विवेचना की है. रामानुज और वाल्लभ वेदान्तोंकी तरह यह चिन्तक भी भ्रान्तिको मूलतः अख्याति ही मानता है और यह ज्ञानकी अपूर्णता ही भ्रान्ति बन जाती है, ऐसा प्रतिपादन करता है. वह कहता है:

> **''प्रत्येक प्रत्यय जो निरपेक्ष या पर्याप्त और सम्यक् होता है वह सत्य ही होता है. किसी प्रत्ययको 'पर्याप्त' और 'सम्यक्' कहनेका अभिप्राय यह है कि परमेश्वर, क्योंकि, हमारी चेतनाका मूल तत्त्व है अतः पर्याप्त और सम्यक् प्रत्यय परमेश्वरमें विद्यमान रहता है. अतएव ऐसे प्रत्ययको सत्य मानना चाहिये यह सिद्ध हुवा. परिच्छिन्न ज्ञानमें, परिच्छिन्नतावश, प्रकटी त्रुटि या च्युतिके कारण ही अपर्याप्त आंशिक या संकीर्ण प्रत्ययोंमें मिथ्यात्व आता है. क्योंकि ज्ञानमें स्वयंमें ऐसा कुछ भी भावात्मक गुणधर्म नहीं होता जो ज्ञानको 'मिथ्या' कहे जाने लायक बना पाये. मिथ्यात्व न तो किसी तरह वस्तुत्रुटिरूप या अभावरूप होता है और न इसे शुद्ध अज्ञान ही केवल माना जा सकता है. क्योंकि अज्ञान और भ्रम एक ही तरहके नहीं होते. भ्रम, अतएव, ज्ञानगत ऐसी त्रुटि है जो अपर्याप्त, आंशिक, या संकीर्ण प्रत्ययोंमें प्रकट होती है'.''[८७]**

इसके बाद इसे सोदाहरण स्पष्ट करनेको स्पिनोज़ा निरुपाधिक भ्रमके बारेमें कहता है कि मनुष्यको अपनी चेतनामें कर्मस्वातन्त्र्यकी भ्रान्ति होती है, क्योंकि अपने शरीरमें कर्मके उत्पादक हेतुओंका उसे ज्ञान नहीं होता. इसी तरह आकाशमें सूर्यपिण्डके हमारे समीप होनेकी

जो भ्रान्ति होती है, वह दूर होनेके तत्त्वज्ञानके बाद भी निवृत्त नहीं होती, क्योंकि मनुष्यके शरीरके रूपमें सूर्यका तत्त्व परिणत हुवा है. वाल्लभ वेदान्त भगवान्में अनन्त शक्तिओंके अन्तर्गत एक इच्छाशक्तिको भी स्वीकारता है जिसे स्पिनोज़ा नही स्वीकारता. अतः अंशी सच्चिदानन्द ब्रह्मकी अंशभूता सत्ता और चेतना की तरह भगवान्की अंशिरूपा इच्छाशक्तिकी तरह अंशभूता इच्छाशक्ति भी जीवात्मामें अनुगत होती है, ऐसा वाल्लभ वेदान्तका मानना है. अतः हमारी इच्छाओंका अंशीकी इच्छाके आधीन होनेका जो ज्ञान नहीं होता, उस अंशमें तो अख्याति वाल्लभ वेदान्त भी मानता है. परन्तु ईश्वरेच्छांकुशरहित कर्मस्वातन्त्र्यका अनुव्यवसाय वाल्लभ वेदान्तमें अन्यख्यातिरूप माना जायेगा. सूर्यसामीप्यके औपाधिकभ्रमकी स्पिनोज़ाकी विवेचनाके बारेमें कुछ भी कहना आवश्यक नहीं लगता, क्योंकि दूरावस्थित पिण्डके अपने आकारसे लघुतराकारकी भ्रान्तिकी हेतुभूता उपाधिकी विवेचना वाल्लभ वेदान्तमें तो कहीं सुविशदतया हुयी नहीं है. यों महाप्रभु और स्पिनोज़ा के मतोंमें रही कई सामान्य धारणायें तो कुछ घोर मतभेद भी चकित कर देनेवाली बाते लगती हैं. जिओर्दानो ब्रूनोका शुद्धाद्वैतवादी चिन्तन तथा देकार्तेका त्रैतवादी चिन्तन स्पिनोज़ाके चिन्तनमें जैसे एक विकसित शुद्धाद्वैतवादके रूपमें प्रकट हुवा, उसीके ही आसपास माल्ब्राँने भी ईसाई विचारधारा और देकार्तेकी विचारधारा के बीच सुसंवादार्थ एक विलक्षण प्रयास किया. यद्यपि विद्वानोंने इसे स्पिनोज़ासे भी प्रभावित माना है.

माल्ब्राँ (ई.१६३८-१७१५) स्वयं अपने मत और स्पिनोज़ाके मत के बीच तारतम्य इस तरह दिखलाता है कि स्पिनोज़ाके मतके अनुसार परमेश्वर सृष्टिमें विद्यमान है जबकि माल्ब्राँके अनुसार सृष्टि परमेश्वरके भीतर विद्यमान रहती है.[८८]

माल्ब्राँके अनुसार भ्रान्ति हमारे अनुभवात्मक अथवा आकांक्षात्मक उभयविध आन्तरिक व्यापारोंके वश होती है. अनुभवके तीन प्रकारोंके

अन्तर्गत उसने प्रथम इन्द्रियजन्य अनुभव, द्वितीय कल्पना और तृतीय शुद्धबोध माने हैं. आकांक्षाके दो प्रकारोंमें प्रथम रुझान और द्वितीय मानसिक आवेग. रुझान या मानसिक आवेगोंमें वस्तुका स्वभाव नहीं प्रत्युत वस्तुओंका हमपर पड़ता प्रभाव प्रकट होता है. इसी तरह इन्द्रियजन्य अनुभूति और कल्पना भी एक संवेदनशील द्रष्टाके रूपमें हमारेपर वस्तुके द्वारा प्रकट किये गये प्रभावके रूपमें प्रकट होती हैं, नकि स्वयं वस्तु जैसी होती हैं, वैसा उनका स्वरूप बतानेवाली. इन्द्रियजन्य अनुभूति हेयोपादेयके विवेकद्वारा हमारेलिये शारीरिक जीवनके संरक्षणार्थ होती हैं. ये तथ्यके बारेमें झूठे बयान दे कर भी कथंचित् हमें बचाना चाहते हमारे गवाहकी तरह होती हैं! क्योंकि इन्द्रियजन्यानुभूति और कल्पना हमारे देहात्मसंघातसे जुड़ी ज्ञानप्रणाली होती हैं और शुद्धबोधाश्रित विचारशीलता शुद्धात्माके साथ अपृथग्भावेन जुड़ी रहती है. अतः ज्ञानके प्रकारभेद ज्ञेयके प्रकारभेदसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं. नियतसत्ताक एवं अपरिच्छिन्न परमेश्वरके बारेमें साक्षाद् अन्तःस्फूर्त विचारोंके द्वारा ही हमें शुद्धबोधाश्रित ज्ञान मिल पाता है. अतएव परमेश्वरके बारेमें हमारा ज्ञान अधिक सुनिश्चित होता है परन्तु उसका स्वरूप हम कुछ कम ही समझ पाते हैं. बाह्य जगत्की वस्तुओंको हम समझ तो भलीभांति पाते हैं परन्तु जान नहीं पाते कि वस्तुतः वे हैं भी कि नहीं? क्योंकि बाह्य वस्तुओंके प्रत्ययोंके बिना बाह्य वस्तुओंके साथ हमारा सम्पर्क साक्षात् हो ही नहीं सकता. परमेश्वरको बाह्य वस्तु और उनके आन्तर प्रत्ययों के निर्माताके रूपमें मानना पड़ता है. क्योंकि वह जैसे जब जिन वस्तु और उनसे जुड़े जैसे प्रत्यय प्रकट करता है वैसा ही ज्ञान हमारे भीतर भी प्रकट होता है. जैसा कि परमेश्वरने सृष्टिका प्रकार घड़ा है प्रत्ययोंके द्वारा होता बोध भी उसी प्रकारका होता है. हां, वह हमारे भीतर भी प्रकारबोधतया ही प्रकट होता है. उन्हें न तो परमेश्वर जीवात्माके निर्माणके समय उनमें स्थापित करता है और न बादमें कभी प्रकट करता है. क्योंकि प्रत्येक जीवात्मा परमेश्वरके भीतर विद्यमान रहती है एतावता उसके

भीतर भी वे प्रकाररूप प्रत्यय प्रकट हो जाते हैं. अतः हम समझते हैं कि वस्तुका प्रत्यय वस्तुसे जुड़े हुवा रहता है. वस्तुतः जबकि दोनों एक-दूसरेसे स्वतन्त्र तथा कुछ हद् तक इतरेतरानुरूप दो परमेश्वरकी कृतियां हैं.

अतः पारमार्थिक ज्ञान वस्तुको उस तरह जानना है कि जिस तरह उन्हें परमेश्वर जानता है. नैतिकता भी, अतएव, वस्तुको उस तरह चाहना है जिस तरह परमेश्वर चाहता है. निष्कर्षतया पारमार्थिक ज्ञान परमेश्वरका ज्ञान होता है और पारमार्थिक इच्छा परमेश्वरकी चाहना है. अतएव जागतिक वस्तु और व्यक्ति के बारेमें इन्द्रियजन्य ज्ञान और उनके बारेमें हमारी कल्पना भ्रान्तिरूपा होती हैं. इसी तरह उनके बारेमें हमारी चाहना भी हमारी वस्तु या व्यक्ति के बारेमें जो रुझान और आकांक्षा होती हैं उनसे जुड़ी हुयी होती हैं.[८९]

जहां तक भ्रान्तिकी विवेचनाका सवाल है वाल्लभ वेदान्तकी धारणाके अनुसार माल्ब्रॉके मतके बारेमें यह कहा जा सकता है कि कुछ इन्द्रियजन्य ज्ञान भ्रान्तिरूप होते हैं तावता सभी इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको भ्रान्तिरूप नहीं माना जा सकता. यह कथा और है कि सृष्टिमें ब्रह्मात्मकता प्रतीत न होती होनेके कारण कोई भी ज्ञान, चाहे प्रमा या चाहे भ्रान्ति के रूपमें प्रकट होता हो, दोनोंमें कुछ ब्रह्मस्वरूपाज्ञानसे जन्य आयाम तो रहेंगे ही परन्तु वह ब्रह्म स्वयं ही जिस या जिन रूपोंमें परमार्थतया प्रकट हुवा है उन रूपोंके सन्दर्भमें सभी इन्द्रियजन्य ज्ञान और सभी शब्दजन्य विकल्पकल्पना भ्रान्तिरूपा नहीं होती हैं. इसके अलावा हम देख सकते हैं वाल्लभ वेदान्तमें भी नामसृष्टिको भगवान्के धर्मभूत ज्ञानके अंशतया, जीवचेतनाके अन्तःकरण और बाह्यकरणोंसे जुड़नेपर, प्रकट होते वृत्तिरूप ज्ञानतया माना गया है, यह इन दोनों दर्शनोंको कुछ सीमा तक समीप भी लाता है. वाल्लभ वेदान्त स्पिनोज़ाकी ही तरह परमात्माको जगत्में

अर्न्तयामितया ही नहीं अपितु उपादानतया विद्यमान ब्रह्मको भी स्वीकारता है. माल्ब्राँके अनुसार सृष्ठिका परमेश्वरके भीतर विद्यमान होना भी वाल्लभ वेदान्तको सर्वथा मान्य है, न केवल ज्ञानान्तःस्थित ज्ञेयतया अपितु द्रव्यान्तःस्थित नाम-रूप-कर्मतया, सच्चिदानन्द अंशीके अन्तःस्थित अंशतया और देशकालवस्तुके परिच्छेदसे रहित ब्रह्ममें देश-कालपरिच्छिन्न अनेक वस्तुतया भी.[९०] वाल्लभ वेदान्त जीवचेतनामें प्रकटे ज्ञान और स्नेह को ब्राह्मिक स्वयम्प्रकाशरूपता और पारमात्मिक आत्मरति के अंशतया ही स्वीकारता है.[९१]

३.जॉह्न् लोक् और बिशप् बर्कले : अपने पश्चिमी दर्शनके इतिहासमें बर्ट्रेंड् रसेल् कहते है कि **जॉह्न् लोक्** (ई.१६३२-१७०४) यूरोपमें ई.१६८८ में हुयी क्रान्तिके पूर्ण अनतिवादी और अतीव सफल अग्रदूत हुवे. रसेल्के अनुसार न केवल प्रामाणिक मत अपितु लोक्की भ्रान्तधारणायें भी व्यवहारमें उपयोगी होती हैं. लोक्ने गुणधर्मोंके दो विभाग दिखलाये :

> एक प्राथमिक गुणधर्म जो इन्द्रियगृहीत हुवे बिना भी वस्तुसंघातसे अपृथक् रहते होते हैं, यथा, ठोसपना देशवर्तिता आकृति गति स्थिति और संख्या.
>
> द्वैतीयक गुणधर्म, यथा, वर्ण ध्वनि गन्ध आदि होते हैं जो इन्द्रियोंद्वारा गृहीत न होनेपर वस्तुमें विद्यमान नहीं रह पाते.

बिशप् बर्कलेने, परन्तु, लोक्की ही युक्तिओंके आधारपर प्राथमिक गुणधर्मोंको भी अग्रहणकालमें वस्तुमें विद्यमान न होनेकी युक्ति दे ही दी.[९२] लोक्का 'An Essay Concerning Human Understanding' ज्ञानमीमांसार्थ वस्तुतः एक अद्भुत सांगोपांग ग्रन्थ है. इसमें प्रत्ययोंके प्रभेद शुद्धतया या संश्लिष्टतया, उनकी उत्पत्तिके प्रकार एकेन्द्रियग्राह्यतया/एकाधिकेन्द्रियग्राह्यतया अथवा निष्क्रियान्तःकरणग्राह्यतया/सक्रियान्तःकरणग्राह्यतया, उनके याथार्थ्य/अयाथार्थ्यके निकष, बाह्य प्रकृति और प्रत्यय की इतरेतरानुरूपता या अननुरूपता आदि अनेकानेक विषयोंकी सुविशद चर्चा हुई है.

इनमें यथार्थ और काल्पनिक प्रत्यय, पर्याप्त और अपर्याप्त प्रत्यय और वास्तविक और मिथ्या प्रत्ययों की चर्चा क्रमशः तीसवें इकत्तीसवें और बत्तीसवें परिच्छेदमें हुई है. उसका सार यों है:

> **यथार्थ और काल्पनिक प्रत्ययोंका पार्थक्य यही है कि यथार्थ प्रत्ययोंकी नींव बाह्य प्रकृतिमें निहित होती है और विषयके वास्तविक स्वरूप और सत्ता या उसके प्रतिमान के अनुरूप वे होते हैं. जबकि काल्पनिक प्रत्यय इसके विपरीत होते हैं... इन्द्रियजन्य सभी शुद्ध प्रत्यय यथार्थ होते हैं. शुद्ध प्रत्ययोंके ग्रहणमें अन्तःकरण सर्वथा निष्क्रिय गृहीता बना रहता है जबकि संश्लिष्ट प्रत्ययोंके ग्रहणमें अन्तःकरण सक्रियतया गृहीता बनता है. व्यक्तिभेदवश, अतएव, संश्लिष्ट प्रत्ययोंमें भी प्रभेद प्रकट न होता तो एक वस्तुके बारेमें दो व्यक्तिओंकी अलग-अलग धारणा कैसे बंध पाती? वस्तुके मिश्रित रूप जो सुसम्बद्ध प्रत्ययोंसे घटित होते हैं वे यथार्थ होते हैं. द्रव्यके बारेमें वे प्रत्यय यथार्थ होते हैं जो वस्तुसत्ताके अनुरूप होते हैं.**
>
> **प्रत्यय कुछ पर्याप्त होते हैं तो कुछ अपर्याप्त. सभी शुद्ध प्रत्यय पर्याप्त होते हैं. क्योंकि वे परमेश्वरद्वारा बाह्य वस्तुओंमें स्थापित तथा निर्धारित ऐसी कोई सामर्थ्यविशेषके कारण हमारे अन्तःकरणमें जन्य प्रभावके रूपमें प्रकट होते हैं. द्रव्यके बारेमें अपर्याप्त प्रत्यय वे होते हैं जो संश्लिष्ट होते हैं. यद्यपि वे भी बाह्य प्रकृतिकी प्रतिकृति होते हैं तथापि पूर्णतया प्रतिकृतिरूप नहीं होते. वैसे द्रव्यके रूप और सम्बन्ध के प्रतिमानोंके जैसे प्रत्यय पर्याप्त**

ही होते हैं.

सत्य और मिथ्या होना वैसे तो प्रतिज्ञा या विधान के साथ जुड़ी हुयी बातें हैं परन्तु इन्हें बहुधा प्रत्ययोंके साथ भी जोड़ा जाता है. अन्तःकरणमें होते प्रतिभास या प्रत्यक्ष के अलावा प्रत्यय अन्य कुछ भी नहीं, अतः उनमें सत्य या मिथ्या होने जैसा कोई गुणधर्म होता नहीं. एकपदात्मक प्रत्यय न तो सत्य हो सकता है और न मिथ्या ही, फिर भी क्योंकि उसके विधान या निषेध द्वारा किसी निरूप्यमाण गुणधर्मका निरूपण होता होनेसे ऐसे कहा जाता है. अतः प्रत्ययानुरूप वस्तु हो तो प्रत्यय सत्य कहलाता है और न हो तो मिथ्या. अन्तःकरण जब ऐसे किसी प्रत्ययको घड़ता है जिसके अनुरूप वस्तुकी संरचना या तात्त्विक स्वरूप पर सारे गुणधर्म निर्भर होते हों तो ऐसे प्रत्ययको सत्य अन्यथा मिथ्या मान लेना चाहिये.

आनुभविकवादकी ठोस नींव डालनेका काम लोकने किया फिर भी देखा जा सकता है कि उसके चिन्तनमें न बाह्य जगत्के काल्पनिक होनेका अतिवाद प्रकट होता है और न प्रत्ययात्मक ज्ञानको सर्वथा ज्ञेयालम्बनरहित माननेका अतिवाद. ऐसी स्थितिमें सत्ख्याति, अख्याति, नैयायिकाभिमत अन्यथाख्याति, आत्मख्याति अथवा अनिर्वचनीयख्याति सुसंगत होती धारणा नहीं लगती. या तो बाह्यार्थवादी बौद्धोंको जो कोई ख्यातिका प्रकार मान्य होगा वैसी या फिर अन्यख्याति, जो अबाह्य विकल्पका बाह्यतया ख्यान भ्रमस्थलपर स्वीकारती है, ऐसी कोई धारणा ही सोची जा सकती है.[९३]

बिशप् बर्कले (ई.१६८५-१७५३) यान्त्रिक भौतिकवादके दुष्प्रभावसे परमेश्वरास्तित्वको बचानेकेलिये भौतिक वस्तुकी सत्ताको ही असम्भव

मानवा लेनेका सूत्र "esse est percipere" बर्कलेका प्रमुख अवदान है.[९४] इस सूत्रके तार्किक रूपको भलीभांति समझना हो तो [(सत्ता ≡ दृश्यता) ⊃ (~ दृश्यता ⊃ ~सत्ता)] यों देखा जा सकता है. इस युक्तिमें रहा दोष इसे थोड़ासा ही उलट कर परखनेसे स्पष्ट भी हो जाता है. यहां जिस आधारवचनसे दृश्य न होनेपर अस्तित्वको इन्कारा जा रहा है, उसी आधारवचनके बलपर अस्तित्व न होनेपर दृश्य न होना भी तर्कतः सिद्ध होता ही है. इसे दृश्यता और सत्ता के स्थानपरिवर्तनद्वारा यथा : [(सत्ता ≡ दृश्यता) ⊃ (~ सत्ता ⊃ ~दृश्यता)] भलीभांति समझा जा सकता है, परन्तु, बिशप् बर्कले यह स्वीकार नहीं सकेंगे क्योंकि बाह्य जगत्की सत्ता न होनेपर भी उसकी भ्रमात्मिका दृश्यता तो होती ही है! अतः दृश्यताके साथ 'प्रमात्मिका' विशेषण जोड़नेपर तो स्वयं आधारवचन ही अपनी सारी तार्किक क्षमता खो देगा!

बहरहाल लोकके आनुभविकवादको आधारवचन बना कर बर्कलेने काल्पनिकवादको निष्कर्षवचनतया निगमित किया था, यह तो स्पष्ट ही है.

इस विचारधाराका भारतीय दृष्टिसृष्टिवादसे इस पक्षमें तारतम्य स्पष्ट है कि यहां माया या अविद्या की उपादानतया या निमित्ततया कल्पना किये बिना बाह्य सृष्टिको मिथ्या मान लिया गया. अतएव ब्रह्माद्वयके तत्त्वज्ञानसे द्वैतप्रपञ्चकी निवृत्तिकी तरह बर्कलेके मतमें परमेश्वरके तात्त्विक ज्ञानसे परमेश्वरसृष्ट प्रत्ययोंकी निवृत्ति नहीं स्वीकारी गयी है. भारतीय दृष्टिसृष्टिवादमें जैसे व्यावहारिकी ईश्वरकल्पिता सृष्टिके अन्तर्गत द्रष्टृदृश्यभाव कल्पित होनेसे द्रष्टाकी अनुपस्थितिमें भी दृश्य विद्यमान रह सकता है, वैसे ही बर्कलेके मतमें भी द्रष्टाकी अनुपस्थितिमें भी परमेश्वरके द्वारा कल्पित होनेसे दृश्य विद्यमान रह सकता है.[९४]

भारतीय दृष्टिसृष्टिवादकी अवधारणामें, किन्तु, एक बड़ी कठिनाई

है. वह यह कि द्रष्ट-दृश्यभेदरहित दृष्टितत्त्वके पारमार्थिक ज्ञानके कारण कल्पित द्रष्ट-दृश्यभाव बाधित तो हो सकता है परन्तु उस बाध्यता या ''स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिता'का अनुभव स्वयं द्रष्टृभावापन्न चेतनामें कैसे प्रकट हो पायेगा ? द्रष्टृभावरहित चेतना यदि द्रष्ट-दृश्यभावनिरासिका होती तो वह मिथ्या प्रत्यय प्रतिभासित ही हो नहीं पाता, सो बाधज्ञान तो अनवसरपराहत होगा! अतः बाधानुभूतिके आश्रयीयभूत, अर्थात् स्वयं द्रष्टृभावकी कल्पनावाले मूल व्यावहारिक द्रष्टा, में प्रकट होते बाधज्ञानसे व्यावहारिक दृश्यप्रपञ्च कैसे बाधित हो सकता है? क्योंकि व्यावर्त्य व्यावहारिक दृश्यविस्तार अंशिरूप होता है और व्यावहारिक अनुवर्तमान द्रष्टा तदंशरूप. अंशिनाशका साक्षी अंश यदि बनता हो तो अंशांशिभाव ही खण्डित हो जायेगा. निष्कर्षतया व्यावहारिक द्रष्टामें प्रकटे ब्रह्मज्ञानसे प्रातिभासिक दृश्य ही बाधित हो सकता है व्यावहारिक नहीं, क्योंकि वह द्रष्टृपरिकल्पित नहीं प्रत्युत द्रष्टा स्वयं उस व्यवहारमें परिकल्पित होता है.

इससे यह सम्भव नहीं लगता बर्कलेके मतमें अनिर्वचनीयख्यातिवाद सुसंगत हो पाये. इसके अलावा बर्कलेके मतमें परमेश्वरने अपने वास्तविक कर्तृत्वद्वारा जीवात्माके भीतर वास्तविक दृश्यप्रत्यय उत्पन्न किये हैं, ऐसा माना गया होनेसे प्रत्यय स्वयं मिथ्या नहीं प्रत्युत उनसे निरूप्यमाण बाह्य भौतिक विषय ही मिथ्या माना गया है. अतः बर्कलेकी धारणाके अनुकूल यदि किसी भारतीय ख्यातिवादकी धारणाको प्रतिष्ठापित करना हो तो वह आत्मख्यातिवाद ही हो सकता है. अन्य कोई नहीं.

४.लाइप्निट्ज् : कहा जाता है कि यूरोपीय दर्शनमें अरिस्तोतल्के बाद उसके जैसी बहुमुखी प्रतिभाका धनी कोई चिन्तक यदि हुवा तो वह मोनाडोलोजीका प्रवर्तक **गोट्फ्राइड् विल्हेम् लाइप्निट्ज्** (ई.१६४६-१७१६) था. यदि भारतीय काश्मीरी प्रत्यभिज्ञादर्शनके परमशिव एकमेवाद्वितीय न होते तो लाइप्निट्ज्के मोनाड्स्में परम शिवका प्रत्यभिज्ञान निश्चय

ही सुकर होता. इसी तरह जैनोंके अनेक सर्वज्ञ तीर्थंकरात्माओंमेंसे यदि कोई एक जगत्कर्ता होता तो उसे भी लाइप्निट्ज्के परमेश्वरतया सोचा जा सकता. कोपरनिकस् गेलेलियो केप्लर् न्यूटन् आदिके वैज्ञानिक चिन्तनोंके कारण, वैचारिक क्षितिजपर यान्त्रिक भौतिकवादकी फटती पौकी बिभीषिकासे त्रस्त बिशप् बर्कलेने जैसे भौतिक पदार्थोंकी बाह्य सत्ता इन्कारनी चाही, वैसे लाइप्निट्ज्ने भौतिक पदार्थोंकी बाह्य सत्ताको स्वतःसक्रिय सचेतनाणु (Monads) अर्थात् जीवात्मचेतना और परमेश्वर के भीतर बन्द कर देनी चाही. अतएव इस चिन्तकके मतमें अभिप्रेत परमेश्वरका निरूपण करते हुवे रिचार्ड फाल्कन्बर्ग् कहते हैं ''**परमेश्वर विश्वका आधार है और पर्यवसान भी. क्योंकि सब कुछ उसीकी ओर अग्रसर हो रहा है**'.'[९६] अर्थात् तथाकथित जड़ द्रव्योंमें भी परमेश्वरकी ओर अभिसारिणी चेतना है ही परन्तु सुषुप्तवत् होनेसे उसकी स्पष्ट अनुभूति नहीं हो पाती. अतः जड़द्रव्य भी सारेके सारे सुषुप्तचेतनावाले मोनाड्स् ही माने जाते हैं. मनुष्येतर जीव भी जाग्रत् मोनाड्स् तो होते हैं परन्तु उनमें रही चेतना तर्कणा शक्तिपर्यन्त स्पष्ट नहीं होती. अर्थात् मनुष्येतर जीवोंके मोनाडोंमें रही चेतना केवल अनुभूति और स्मृति प्रकट करनेमें सक्षम होती है. मनुष्यके मोनाडोंमें वह तर्कशक्तिको और अधिक प्रकट करने लगती है. जबकि परमेश्वररूपी मोनाड्की चेतनामें सारा विश्व परिपूर्ण एवं स्पष्टतम रूपसे प्रकट रहता है. उत्तरोत्तर अधिक स्पष्टता तथा पूर्णता के गुणोंसे युक्त मोनाड् अल्पतर स्पष्टता तथा पूर्णता वाले मोनाडोंके प्रशासक बन जाते हैं, यथा देहगत सुषुप्तचैतन्यवाले असंख्य मोनाडोंका प्रशासन स्पष्टतर और पूर्णतर एक जीव-मोनाड् करता है. इस तरह सारे जीव-मोनाडोंका प्रशासन स्पष्टतम और पूर्णतम चेतनावाला परमेश्वररूपी मोनाड् करता है.

सभी मोनाडोंमें दो तरहके गुणधर्म होते हैं : १.निष्क्रिय अनुभूतिग्रहणशीलता और सक्रिय अनुभूतिजननशीलता. प्रथम गुण तो मनुष्येतर प्राणिजगत्में भी विविध अनुपातोंमें उपलब्ध रहता है जबकि

मनुष्यमें उभयविध उपलब्ध रहते हैं. फाल्कन्बर्ग् लाइप्नित्ज्के मतके बारेमें यह महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण देते हैं : ''**जैसे आत्मरहित देह नहीं होते इसी तरह देहरहित आत्मा भी नहीं होती**'.'[९७] लाईप्नित्ज्की ज्ञानमीमांसकीय धारणाओंकी विवेचना करते हुवे फाल्कन्बर्ग् कहते हैं :

> ''**देकार्तेके अनुसार कुछ (शुद्ध) प्रत्यय चेतनामें अन्तर्निहित होते हैं और जॉन्ह् लोक्के अनुसार कोई भी प्रत्यय अन्तर्निहित नहीं होता, जबकि लाइप्नित्ज्के अनुसार सभी प्रत्यय मोनाडोंकी चेतनामें अन्तर्निहित ही होते हैं. अथवा देकार्तेके अनुसार कुछ (ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष) प्रत्यय बाहरसे भीतर प्रविष्ट होते हैं और जॉन्ह् लोक्के अनुसार सभी प्रत्यय बाहरसे ही चेतनाके भीतर प्रविष्ट होते हैं, जबकि लाइप्नित्ज्के अनुसार कोई भी प्रत्यय बाहरसे चेतनाके भीतर प्रविष्ट नहीं होता. जॉन्ह् लोक्के साथ असहमत हो कर, लाइप्नित्ज् देकार्तेके साथ इस विषयमें सहमत है कि अन्तःकरणमें कुछ प्रत्यय स्वतःसिद्ध होते हैं. इसी तरह देकार्तेके साथ असहमत हो कर, लाइप्नित्ज् जॉन्ह् लोक्के साथ सहमत भी होता है कि बौद्धिक विचार ऐन्द्रियक अनुभवके बाद ही प्रकट होते हैं. अतः सामान्यबोध व्यक्तिबोधोत्तरभावी होते हैं ऐसे देकार्ते मानता है**'.'[९८]

इस तरह देखा जा सकता है कि रामानुज तथा वाल्लभ दोनों ही वेदान्तोंमें सर्वथा मान्य औपनिषदिक धारणा कि ''**सर्वं सर्वमयम्**''[९९] लाइप्नित्ज्के चिन्तनमें भी इतनी जोरशोरसे उभरी है कि कोई भी एक मोनाड् दूसरे मोनाड्के लिये प्राप्य उत्पाद्य ज्ञेय या नाश्य रूप कर्मभावापन्न नहीं हो पाता, परमेश्वरके मोनाड्के अपवादको छोड़ कर. अतएव लाइप्नित्ज्के मोनाडोंको 'वातायनविहीन' कहा जाता है. इस तरहके चिन्तनमें वस्तुतः तो लाघवतर्कवशात् तो परमेश्वर भी आवश्यक होना नहीं चाहिये था. परन्तु बर्ट्रेंड् रसेल् जैसा कहते हैं कि लाइप्नित्ज्

सार्वजनिकतया तो जो सबको अच्छी लगें ऐसी ही धारणा प्रकट करता था एवं निजी तौरपर कुछ और धारणायें भी अपने हृदयमें ही नहीं परन्तु अपने दराज़में भी संजोये रखता था[१००] अतः मुझे लगता है कि अनावश्यक परमेश्वरको भी आवश्यक मानना अवश्य ही उसकी सार्वजनिक धारणा होगी! जहां तक भ्रान्तिज्ञानकी विवेचनाका प्रश्न है सुस्पष्टतया चेतनामें प्रकट होते अपूर्ण और अस्पष्ट प्रत्यय ही भ्रान्तिजनक भी कहे जा सकते होनेसे और सभी मोनाडोंमें सारा विश्व चित्रतया सर्वदा विद्यमान रहता होनेसे रामानुजाभिप्रेत अख्यातिवाद और सत्ख्यातिवाद के अलावा और कौनसा ख्यातिवाद उसकी विचारधाराके संगत हो सकता है ?

५.डेविड् ह्यूम् : जॉन्ह् लोक्के द्वारा गुणधर्मोंके किये गये विश्लेषणसे प्रेरित हो कर जैसे बिशप् बर्कलेने भौतिक पदार्थोंके अस्तित्वका इन्कार किया था, वैसे ही **ह्यूम्**(ई.१७११-१७७६)ने अन्तःकरणके अस्तित्वको इन्कार दिया. उसके अनुसार एकके बाद दूसरे पैदा होते प्रत्ययोंके अलावा अन्तःकरण जैसे किसी तत्त्वके अस्तित्वका कोई ठोस प्रामाणिक आधार हमें दिखलायी नहीं देता. अतः न तो बाहर किसी तरहके जड़द्रव्यके होनेका और न भीतर किसी तरहके चेतनद्रव्यके होनेका कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध होता है. जॉन्ह् लोक्के अनुसार बाह्य पदार्थ और बिशप् बर्कलेके अनुसार परमेश्वर हमारे भीतर प्रत्ययोंको उत्पन्न करनेवाले कारण माने गये थे परन्तु ह्यूम्के अनुसार दो वस्तुओं या घटनाओं के पूर्वोत्तरभावके आधारपर एक दूसरेके कारण और कार्य होनेकी धारणा घड़ लेना अनुभूतियोंके पुनरावर्तनके कारण पनपी हमारी मानसिक आदतके अलावा अन्य कुछ नहीं. अतः दो प्रत्ययोंके बीच सामान्य-विशेषभावके, दैशिक सम्बन्धके या कालिक सम्बन्धोंके अनुभवात्मक प्रभाव तो हमारे भीतर प्रकट होते हमें लगते हैं परन्तु उनके हेतु कोई स्पष्टतया निर्धारित नहीं हो पाते. देकार्तेका सर्वग्रासी सन्देह निश्चित प्रत्ययोंके प्रासादकी नींव डालनेके हेतु था परन्तु ह्यूम्का

सर्वग्रासी सन्देह उस प्रासादको ढहा देने ही प्रवृत्त हुवा था!

अतः ह्यूमके सन्देहवादके साथ भ्रान्तिकी कैसी धारणा संगत हो सकती होगी इसका अनुमान दीयमान उसके वचनके आधारपर भलीभांति समझा जा सकता है:

> **''क्योंकि प्रत्यक्षके अलावा अन्य तो कुछ भी हमारे अन्तःकरणके सामने प्रस्तुत ही नहीं होता और प्रत्यय तो प्रत्येक उसी प्रत्यक्षके कारण पनपते होते हैं; अतः यह सिद्ध होता है, कि इस प्रत्यक्षजन्य प्रभाव या प्रत्यय के अतिरिक्त विशेषतया कुछ अन्य भी हो सकता है ऐसा सोच पाना सम्भव नहीं लगता. स्वयं हमारेसे बाहर हम जितना भी ध्यान कहीं केन्द्रित करना चाहते हों कर लें : स्वर्ग पर्यन्त कल्पनाओंके पीछे हम दौड़ लें, अथवा ब्रह्माण्डकी परमकाष्ठापन्न सीमाओं तक चक्कर लगा लें, हम वस्तुतः न तो स्वयं अपने-आपसे बाहर एक क़दम भी रख सकते और न अपने प्रत्यक्षोंकी सीमित परिधिके बाहर किसी तरहके अस्तित्वको ही सोच पाते हैं. यह विश्व है हमारी कल्पनाका और इसमें हमारी कल्पनामें प्रकटे प्रत्ययोंके अलावा हमारे पास कुछ भी नहीं है. अधिकाधिक दूर हम बाह्य विषयोंकी सत्ताके प्रत्यय तक जा सकते हैं, जब हम ऐसा सोचते हैं कि वे हमारे प्रत्यक्षानुभूतिसे भिन्न हैं, यह स्वयं उनके बारेमें एक अनुभूतिसापेक्ष प्रत्यय है, जिसे इतरेतरसापेक्ष वस्तुओंके आपसी सम्बन्धोंको समझे विना ही हम घड़ लेते हैं. सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि हम उन्हें कोई खास तौरपर भिन्न नहीं मानते परन्तु उनके बारेमें विभिन्न सम्बन्धों, संयोगों और अवधिओं का ही केवल विधान करते होते हैं'.''[१०१]**

यहां बौद्धोंके आत्मख्यातिवादके अलावा और कोई भी वाद दावेदार हो नहीं पायेगा. एतदर्थ विशेष विवरण अनावश्यक ही लगता है.

(७)**सन्देहवादोत्तर आनुभविकवादी चिन्तन :**

साधारण ही नहीं अपितु विशेष बुद्धिशाली जन भी सामान्यतया जिन अनुभूति, प्रत्यय, तार्किक विचारों; एवं, हार्दिक भावनाओं में निरपवादतया आस्था रख कर जीवनयापन करते होते हैं, उनके बारेमें सन्देहशील बनते ही व्यक्तिमें कोई न कोई दार्शनिक जाग उठनेको अंगड़ाई लेने लगता है. अतएव दर्शनशास्त्रका इतिहास ही पूर्वसिद्ध निश्चयमें सन्देह प्रकट हो जाना, उसके कारण उसे भ्रान्ति मान लेना, उसके बाद नये निश्चयोंकी खोजमें जुट जाना, खोजते-खोजते थक जानेपर पुनः सभी कुछ सन्दिग्ध मान लेना; और, ऐसे सन्देहके कारण प्रकटे अनिश्चय या अज्ञान में भी दो बारा सन्देह हो जानेसे पुनः किसी निश्चयको खोज लेनेको चलती रहती प्रक्रियाओंका इतिहास है.

१.इमानुएल कान्ट् : जैसे प्राचीन यूनानी चिन्तनके इतिहासमें पाइर्‌होंसन्देहवादी प्रकट हुवा था वैसे ही यूरोपके नूतन चिन्तनमें भी ह्यूम् सन्देहवादी हुवा. इसकी विचारधाराने इमानुएल कान्ट्(ई.१७२४-१८०४)को अत्यधिक झकझोर दिया था. अतः सन्देहवादके बाद इमानुएल कान्ट्द्वारा अज्ञेयवादकी प्रस्थापना ''इतिहास अपने-आपको दोहराता रहता है'' इस तथ्यकी गवाही देता है.

कान्ट्के अनुसार वस्तुओंका वास्तविक स्वरूप (Things in Themselves/noumena) क्या हो सकता है, जाननेका हमारे पास कोई उपाय नहीं. क्योंकि जो कुछ हम जान पाते हैं वह या तो हमारे इन्द्रियजन्य प्रतिभासगोचर विषय(Things as They appear in perception

to us/Phenomenon) होते हैं या उन्हें जाननेके प्रकारों एवं आपसी दैशिक एवं कालिक सम्बन्धों(Form of Phenomenon/Space+Time)को ही. निश्चयात्मक बोधके जो चार प्रकार होते हैं, उदाहरणतया, [१]विश्लेषणात्मक "प्रत्येक शरीर देशवर्ती होता है"/"लंबे कदका आदमी भी एक आदमी है", [२]संश्लेषणात्मक "प्रत्येक शरीरमें कुछ न कुछ भारीपन होता ही है"/यह घड़ा लाल रंगका है", [३]अनुभवजन्य "यह घड़ा लाल रंगका है", [४]अनुभवातीत "दो बिन्दुओंके बीच सीधी रेखा एक ही खींची जा सकती है"/"४=२+२". इन चार प्रकारोंमें कान्ट्को ज्ञानमीमांसकीय दृष्टिसे "[४]अनुभवातीत + [२]संश्लेषणात्मक" बोध शक्य है कि नहीं यह प्रमुख जिज्ञास्य लगता है. देश और काल, कान्ट्के अनुसार, न तो अनुभवजन्य प्रत्यय होते हैं और न प्रत्ययजनक वस्तुके वास्तविक स्वरूप ही. देश और काल दोनों ही न तो वस्तुगत होते हैं और न कल्पित ही प्रत्युत जो कुछ विषयका वास्तविक स्वरूप होता है उसे ग्रहण करके उसे किसी निश्चित प्रत्ययात्मना घड़नेवाले स्वयं सविषयक ज्ञानके ही ज्ञानतया बरतनेके सर्वदृष्टसाधारण एवं अपरिहार्य उपकरण या रीतियां होते हैं. बोधजनक वस्तुके वास्तविक स्वरूपको बोधव्यवस्था रूपी देश तथा काल से सम्बन्धित या आयोजित किये बिना वस्तुबोध सम्भव नहीं होता. अतः जो हमें वस्तुबोध होता है वह वस्तुके वास्तविक स्वरूप तथा बोधप्रक्रियाकी घटक देश-कालात्मिका प्रणाली के आपसी मेलजोलसे ही उत्पन्न होता है. इनके अलावा भी कुछ अनुभवातीत निगमनात्मक(उपपत्तिरूप) विधेयतार्ह प्रत्यय कान्ट् स्वीकारता है :

संख्याकीय	गुणात्मक	सम्बन्धात्मक	प्रारूपात्मक
एकत्व	भाव	सांसिद्धिक-नैमित्तिक	सम्भाव्यता
बहुत्व	अभाव	कार्यता-कारणता	विद्यमानता
सकलत्व	परिच्छेद	पारस्परिकता	नियतता[१०२]

इन सारे अनुभवोंको शक्य बनानेवाले तीन मूल स्रोत या सामर्थ्य

होते हैं और ये स्वतः तो अन्तःकरणके अन्य किसी भी क्रियाकलापसे निःसृत नहीं माने जा सकते है, नामशः, इन्द्रियजन्य विषयावभास, कल्पना और आत्मावभास.[१०३] अनुभवातीत आत्मावभास सारे अनुभवोंका मूल एवं अनुभवातीत उपाधि होता है. परिवर्तमान आत्मावभास आनुभविक आत्मावभास होता है, जबकि शुद्ध मूल अपरिवर्तनशील आत्मावभास अनुभवातीत आत्मावभास होता है.[१०४] सम्पूर्ण बाह्य प्रकृतिका ज्ञान मनुष्यको केवल इन्द्रियोंके द्वारा ही होता है. अपने-आपको, किन्तु, वह जानता है सो शुद्ध आत्मावभासद्वारा. अतः वह स्वयं अपनेलिये फिनोमिनारूप भी होता है, इसी तरह बोधके कुछ अन्य उपकरणोंके वश वह केवल बुद्धिग्राह्य विषय भी होता है.[१०५] बहुविध अवभासोंके अनुभवातीत संश्लेषण और अतएव आत्मावभासके संश्लेणात्मक मूल एकत्वके कारण हम स्वयं अपने बारेमें सचेत होते हैं, *जैसे हम हमें अवभासित होते हैं उस रूपमें नहीं और न हम अपने-आपमें जैसे होते हैं वैसे ही,* प्रत्युत केवल *हम हैं* इस रूपमें. यह अवभास एक विचार है नकि अन्तःस्फुरणा.[१०६] यह कान्ट्के ज्ञानके आत्मसम्बन्धी आधारभूत विचार हैं.

इनके अवलोकन करनेपर यह विचारनेको बाधित होना पड़ता है कि क्या कान्ट्के अनुसार आत्माके चार तरहके स्वरूप होते हैं? यथा, १.आनुभविक आत्मावभाससिद्ध स्वरूप, २.तार्किक आत्मावभाससिद्ध स्वरूप, ३.अनुभवातीत आत्मावभाससिद्ध स्वरूप; और, ४.अबोध्य आत्मस्वरूप. अस्तु.

अब भ्रान्तिके बारेमें जो कान्ट्की धारणायें हैं उनका स्वरूप पेंग्विन् डिक्शनरी ऑफ् फिलोसफीमें इन शब्दोंमें निरूपित हुवा है"**कान्ट्के अनुसार तर्ककी स्वाभाविक प्रवृत्ति बोधजनक प्रत्ययोंके उपयोगान्वयद्वारा अपनी सीमाओं, आनुभविक क्षेत्र, को लांघनेकी होती है. इसीके कारण आत्मा, इच्छास्वातन्त्र्य, और परमेश्वर का ज्ञान हमें होनेकी**

भ्रान्ति पैदा होती हैं. ये चाक्षुषभ्रमके जैसी ही स्वाभाविक होती हैं कि तथ्यज्ञानके बाद भी निवृत्त नहीं होती'.'[१०७] इसके अलावा स्वयं कान्ट्के ही शब्दोंमें भी देख लेना उपयुक्ततर होगा:

> ''हमारा सारा ज्ञान ज्ञानेन्द्रियोंसे प्रारम्भ हो कर बोधकी ओर अग्रसर होता हुवा तार्किक अवधारणाओंमें पर्यवसित हो जाता है'.'[१०८]
>
> ''बाह्यविषय और अन्तःकरण, ये दोनों हमारे भीतर बोध प्रकट करते हैं. देश और काल की चोखटमें ही दोनों अपनी-अपनी अन्तःस्फुरणाओंमें प्रस्तुत होते हैं. क्योंकि विषय ही नहीं अपितु उसके गुणधर्म, जो विषयके साथ जुड़ जाते हैं, वे भी सर्वदा वस्तुतः तथ्यतया उपस्थित होते हैं'.'[१०९]
>
> ''एतावता जो कुछ हम सिद्ध करना चाहते वह यही है कि सामान्यतया आन्तरिक अनुभव सामान्यतया बाह्य अनुभवद्वारा ही शक्य बनता है'.'[११०]
>
> ''आभास और भ्रान्ति को एक ही माननेमें कोई उपपत्ति दीखती नहीं, क्योंकि सत्य या भ्रम अन्तःस्फूर्ततया वस्तुगत तो होते नहीं, अतः यह कहा जा सकता है कि इन्द्रियजन्यबोध कभी भ्रमात्मक नहीं होता. यह इसलिये नहीं कि वहां सर्वदा सत्यकी ही अवधारणा होती है प्रत्युत इसलिये कि यह बोध अवधारणात्मक ही नहीं होता. अतः प्रामाण्य या अप्रामाण्य, और अतएव अप्रामाण्यकारी भ्रम भी, विकल्पावगाही निश्चयमें ही विद्यमान होते हैं... इन्द्रियजन्य प्रतिभासमें किसी विकल्पका अवगाहक निश्चय होता ही नहीं है, अतएव वहां भ्रान्ति भी होती मानी नहीं जा सकती है. कोई भी प्राकृत शक्ति अपने नियमोंसे स्वतः च्युत या भ्रष्ट नहीं होती. निष्कर्षतया न तो अन्य किसीसे अप्रभावित बुद्धि और न इन्द्रियां

> ही, स्वतः कभी भ्रान्त हो सकती हैं. बुद्धि और इन्द्रियों के अलावा अन्य तो कोई स्रोत ज्ञानका होता नहीं, अतः सिद्ध हो जाता है कि ज्ञेयताके किसी अनवभासित हेतुके कारण बोधपर पड़े किसी तरहके प्रभाववश ही भ्रान्ति प्रकट होती है. इसीलिये विषयिगत अवधारणाके आधार ही विषयगत आधारोंसे एकीभूत हो कर विषयगत आधारोंको उनकी अर्थक्रिया सम्पन्न करने जानेके मार्गसे भ्रष्ट कर देते हैं (ज्ञेयता, बुद्धि जहां अपना व्यापार करती है वहां बुद्धिके आधीन रहती होनेपर, वास्तविक ज्ञानके प्रकारोंका हेतु बनती है. वही ज्ञेयता, जब बुद्धिके व्यापारोंको प्रभावित करके उससे कुछ अवधारणा करवाने लगती है तब, भ्रान्तिका हेतु बन जाती है)'.'[१११]
>
> ''तर्करूपोंके केवल अनुकरण करनेके बावजूद तर्कनियमोंकी पूर्णतया उपेक्षाके वश तार्किक भ्रान्ति पैदा होती है. उन नियमोंपर, किन्तु, ध्यान आकृष्ट करते ही वह भ्रान्ति पूर्णतया निवृत्त भी हो जाती है. अनुभवातीत भ्रान्ति (उदा.विश्वका आरम्भ किसी न किसी कालमें हुवा होना चाहिये, ऐसी अनुभवातीत भ्रान्त अवधारणा), परन्तु, दोष खोज लेनेके बावजूद निवृत्त नहीं हो पाती, जैसे तटके क्षितिजपर सागरका ऊंचे उठे हुवे दिखना, तथ्यको जान लेनेपर भी भ्रामक प्रतिभासको निवृत्त नहीं करता'.'[११२]
>
> ''प्रत्यक्षद्वारा जो विषयका बोध उत्पन्न होता है वह या तो कल्पनाक्रीडाके रूपमें या अनुभवके रूपमें. निःसन्दिग्धतया इस प्रक्रियाके कारण भ्रमात्मिका प्रस्तुति विषयकी होती है, ऐसी कि जिसका विषयके साथ संवाद नहीं होता. यह वञ्चना जो कभी कल्पनामोह तो कभी निश्चयकी त्रुटि के रूपोंमें निहारा जाता है...'.' [१३]

इन विविध उद्धरणोंके अवलोकनसे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि भ्रान्तिज्ञानका विषय इन्द्रियगोचर होनेके बजाय बुद्धिगोचर ही

होता है. इन्द्रियां सामान्यतया सन्मात्रग्राहिणी ही होती हैं. भ्रान्ति, अतः, ऐन्द्रियक सामान्य बोधमें विपर्यास होनेके बजाय बौद्धिक विशेष बोधमें विपर्यासरूपा होती है. इसमें न तो वस्तुके वास्तविक स्वरूपका प्रतिभास होता है और न बोधप्रणालीके नियत उपकरणोंद्वारा आयोजित रूपोंका प्रतिभास ही है. निष्कर्षतया यह न सत्ख्याति, न असत्ख्याति, न सदसत्ख्याति, न अनिर्वचनीयख्याति, न विवेकाख्याति और न नैयायिकाभिमत अन्यथाख्याति ही हो सकती है. कथञ्चित् परिशेषतया बाह्यार्थवादी बौद्धोंको अभिमत कोई ख्याति या वाल्लभ वेदान्ताभिमत अन्यख्याति के भी पर्याप्त निकट आती सी लगती है.

वैसे तो शांकर वेदान्त और कान्ट् के चिन्तन के प्रशंसकोंको इन दोनोंमें रही कुछ जो सतही समानता है वह बहोत सुहाती है. उदाहरणतया शांकर वेदान्त ब्रह्मको अज्ञेय और अवाच्य मानता है, तो कान्ट् भी वस्तुके वास्तविक स्वरूप (नोमिना) को अज्ञेय और अवाच्य मानता है. वाणीसे वाच्य या बुद्धिसे ज्ञेय बनते वस्तुस्वरूपोंकी पारमार्थकी सत्यता जैसे शांकर वेदान्त नहीं मानता, उसी तरह कान्ट् भी प्रत्यक्षमें प्रतिभासित होते वस्तुस्वरूपको अवास्तविक या व्यावहारिक (फिनोमिनॉन्) मानता है. इस सतही समानताके बावजूद दोनों चिन्तनप्रणालिओंके भीतर थोड़ी और गहरी डुबकी लगानेपर दोनोंके बीच रहे तारतम्यको स्पष्ट भी निहारा जा सकता है. क्योंकि शांकर वेदान्त पारमार्थिक तत्त्वको भेदात्यन्ताभावोपलक्षित मानता है, जबकि कान्ट्के द्वारा नोमिनाके लिये (Things in Themselves/noumena) पदप्रयोग उसके इदमित्थतया द्वैतात्यन्ताभावोपलक्षित न होनेकी गवाही दे देता है. नोमिनाको प्रत्यक्षानुभूतिका भ्रमाधिष्ठान माननेके बजाय कारण मानना भी कार्यकारणभावातीत ब्रह्मसे अतीव भिन्न प्रकारके स्वरूपकी ओर इंगित करता है. इसी तरह प्रत्यक्षभास्य वस्तुस्वरूपको कान्ट् भ्रान्तिरूप नहीं मानता, जैसाकि शांकर वेदान्तमें स्वीकारा गया है. अतएव फाल्कन्बर्ग् कहते हैं:

> **''फिनोमिना और इल्युज़न् एक ही बातें नहीं होती. साधारण जीवनकी धारणाओंके अनुसार इन्द्रधनुषकी केवल प्रातिभासिकी सत्ता (या भ्रान्तिरूपता) ही हम स्वीकारते हैं, जबकि भौतिकविज्ञानके अनुसार वह वस्तुके वास्तविक स्वरूप, जैसे सूर्यकिरणों और वर्षाबिन्दुओंके मिश्रणके कारण पैदा होती भ्रान्ति होती है. इस तरह फिनोमिना और वस्तुके वास्तविक स्वरूप के बीच रहे अनुभवातीत प्रभेदको, साधारण जीवनकी धारणाओं और भौतिकविज्ञानकी धारणाओं के बीच रहे प्रभेदके जैसा नहीं समझ लेना चाहिये... इन्द्रियजन्य बोधकी ही तरह अन्तःस्फूर्त देश-कालके प्रत्यय भी केवल बोधरूप होते हैं ऐसे कान्ट् स्वीकारता नहीं है...'.''[११४]**

अतः सिद्ध होता है कि बोधभास्य फिनोमिना और बोधातीत नोमिना के बीच भासित होता द्वैत, कान्ट्की धारणाके अनुसार, एक अनुभवातीत अभ्रान्त प्रत्यय होता है. वस्तुका वास्तविक स्वरूप, उससे जुड़े किसी प्रत्ययके अनुरूप हो या नहो, वस्तुके बोधावभासित रूपकी सत्ताका स्तर वस्तुके वास्तविक स्वरूपकी सत्ताके समान ही होता है. निष्कर्षतया वस्तुके वास्तविक स्वरूपका पारमार्थिक अद्वैत और प्रत्ययोंका व्यावहारिक द्वैत स्वीकारनेवाली केवलाद्वैतकी धारणाके साथ कान्ट्का चिन्तन सुसंगत नहीं हो पाता. जिन व्यावर्त्य विकल्पप्रत्ययोंके बीच अव्यावर्त्य आत्मप्रत्ययको आधार बना कर आत्मैकत्वको केवलाद्वैतवादमें पारमार्थिक माना गया है, उस सर्वविकल्पप्रत्ययानुस्यूत आत्मैकत्वप्रत्ययको कान्ट् आत्माका वास्तविक स्वरूप माननेके बजाय बोधभास्य फिनोमिनल रूप ही मानता है.[११५]

जहां तक नोमिनाके अज्ञेय होनेकी बातको वाल्लभ वेदान्तके ब्रह्मके सन्दर्भमें तुलनार्थ निरखा जाये तो महाप्रभु भी ''**ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु**

न वक्तव्यैव कुत्रचित् वस्तुतो बह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः'' [११६] यह स्वीकारते हैं ही. अर्थात् स्वरूपदृष्ट्या ब्रह्म अज्ञेय होता है परन्तु लीलाव्यवहारमें वह ज्ञेय भी बनता ही है. यह लोकव्यवहार, वैसे, कान्ट्की चिन्तनप्रणालीके विपरीत ब्रह्मोपादानक तथा ब्रह्मकर्तृक वाल्लभ वेदान्तमें माना गया है. फिर भी स्वरूपतः ब्रह्मका अज्ञेय-अव्यवहार्य होना तथा लीलावश ज्ञेय-व्यवहार्य हो जाना भी माना ही गया है. एतदर्थ ब्रह्म स्वयं ही, निर्माणचेष्टान्वित होनेपर काल बनता है. अतः कान्ट्की धारणाके विपरीत यहां कालको केवल बोधप्रणालीके नियतोपकरणतया माननेके बजाय उभयविध माना गया है, इन्द्रियग्राह्य भी और बुद्धिग्राह्य भी.

इन्द्रियबोधजनक स्वनिर्माप्य द्रव्य भी वही निर्माता बनता है. उनमें प्रकट होते कथञ्चित् स्थैर्यरूप स्वभाव और कथञ्चिद् अस्थिर कर्म के रूपोंमें भी वही प्रकट होता है. जिन अनुभवातीत प्रत्ययोंको कान्ट् अन्तःस्फूर्त देशकालरूप तथा नियत बोधोपकरणरूप मानता है, वे वाल्लभ वेदान्तके अनुसार, जीवचेतनामें नामतया उसी ब्रह्मके ही धर्मभूत ज्ञानके आंशिक प्राकट्य होते हैं. नोमिनाके स्थानीय वाल्लभ वेदान्तमें शुद्ध ब्राह्मिक चिदंश होता है.[११७] इसी तरह फिनोमिना-स्थानीय अन्तःकरणोपेत जीवचैतन्य, अर्थात् कान्ट्के शब्दोंमें अनुभवातीत एकत्वाश्रयीभूत ज्ञातृचैतन्य, और वाल्लभ वेदान्तके अनुसार भी ब्राह्मिक सदंशोपादानक अन्तःकरणोके संघातकी उपाधिके वश लीलात्मक या व्यावहारिक ज्ञाता-कर्ता-भोक्ता बना जीव उसी ब्रह्मका लीलार्थ प्रकट रूप या व्यावहारिक अवभास होता है. इस व्यवहारको, किन्तु, न तो कान्ट् और न वाल्लभ वेदान्त ही मिथ्याप्रतिभास या भ्रान्तिरूप मानने उद्यत होते हैं. जैसे कान्ट्के मतमें अनुभवातीत विकल्पप्रत्ययोंके सारे अवभास मिथ्यावभास नहीं होते तो सारेके सारे प्रमारूप भी नहीं होते, इसी तरह वाल्लभ वेदान्तमें भी सारेके सारे विकल्पावगाही विशिष्टज्ञान न तो भ्रान्तिरूप होते हैं और न प्रमारूप ही. नोमिनाको अज्ञेय मानना

जैसे बुद्ध्याश्रित दार्शनिक निरूपणकी विधा है, वैसे ही ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रय; अर्थात्, गुणधर्मोंके ही चिन्तनमें पर्यवसित होनेवाली बुद्धिसे अगोचर, मानना शास्त्राश्रित दार्शनिक निरूपणकी प्रक्रिया है.

२.फिक्टे, शीलिंग् और हीगल् : बोधको आनुभविक आधारोंपर खरा उतरनेपर प्रमारूप मानना या तार्किक आधारोंपर, इस विवादमें आनुभविकवाद एवं तार्किकवाद के ज्ञानमीमांसकीय दो दल बंटते हैं. इसी तरह बाह्यार्थका उसके बोधसे स्वतन्त्र अस्तित्व होता या बोधरूप ही अस्तित्व होता है इस विवादमें बाह्यार्थास्तित्ववाद और काल्पनिकतावाद के तत्त्वमीमांसकीय दो दल बटते हैं. इन चारों वादोंके परस्पर मिश्रणद्वारा [१]आनुभविकवादमूलक काल्पनिकवाद, [२]तार्किकवादमूलक काल्पनिकवाद, [३]तार्किकवादमूलक बाह्यार्थास्तित्ववाद, और [४]आनुभविकवादमूलक बाह्यार्थास्तित्ववाद. कान्ट्से पूर्ववर्ती आनुभविकवादमूलक कल्पनावादी चिन्तक जड़द्रव्यको चेतन पदार्थमें अन्तर्भूत करना चाहते थे. इमानुएल कान्ट्ने, किन्तु, ज्ञेयतार्ह पदार्थको या तो अवभासके रूपमें माना या फिर ज्ञानप्रणालीगत नियत उपकरणोंकी उपाधिसे उपहिततया अन्तःस्फूर्त माना. अन्यथा वस्तुके वास्तविक स्वरूपको अज्ञेय माना. सो कान्ट्के बाद आनेवाले चिन्तकोंने उस अज्ञेय पदार्थको पुनः ज्ञानके भीतर स्थापित करनेको आनुभविकवादके अवलम्बन बिना ही तार्किकवादमूलक काल्पनिकवादको अपनाना चाहा. इनमें उल्लिखित तीनों ही चिन्तक काल्पनिकवादी थे. इनमें दो स्पष्ट अद्वयवादी थे तृतीय जबकि स्पष्टतया अद्वयवादका प्रतिपादन नहीं करता था.

जॉहेन्न् गोटलिब् फिक्टे (ई.१७६२-१८१४) इस चिन्तक के अनुसार सृष्टिका मूल तत्त्व एक परम अहम् है. जिसकी स्वयंचेतनामेंसे यह सब कुछ प्रकट हुवा है. सृष्टिमें अचेतन जड़ द्रव्य जैसे किसी भी चेतनसे सर्वथा भिन्न पदार्थको यह स्वीकारता नहीं है. अचेतन पदार्थोंकी निर्मिति स्वयं चेतनाद्वारा अपने आत्मावभासको पूर्णतया अनुभव करनेके

लिये हुयी है. अतः सृष्टि व्यक्तिके व्यष्टि-अन्तःकरणसे बाहर अवस्थित होनेपर भी परमेश्वरके अहंसे उसकी अहन्ताके पूर्ण अनुभवार्थ प्रकटी होनेके कारण तिरोहित चेतनावाली तो हो सकती है परन्तु सर्वथा अचेतन नहीं.[११८]

विल्हेम् जोसेफ् शीलिंग् (ई.१७७५-१८५४) यह पक्का शुद्धाद्वैतवादी था. एस्.ई.फ्रॉस्ट् इसके मतको इन शब्दोंमें उद्धृत करते हैं ''बाह्य प्रकृति परमेश्वर है और अन्तःकरण भी परमेश्वर है. प्रथममें परमेश्वर सुषुप्तावस्थाक होता है जबकि द्वितीयमें परमेश्वर जाग्रदवस्थाक होता है. दोनोंमें ही परन्तु वह तो समानरूपसे विद्यमान रहता है'.''[११९] फाल्कन्बर्ग् इसके मतको उद्धृत करते हुवे कहते हैं ''प्रकृति आत्मजीवनकी गर्भितावस्था है और दोनों जड़-जीव तत्त्वतः परस्परात्मक होते हैं. अतः जो चेतनके बाहर अनुभूत होता है वही तो चेतनाके भीतर भी भरा हुवा होता है'.' ''प्रत्येक वस्तुके भीतर दो तरहकी प्रणाली कार्यरत रहती है : वस्तुकी अपनी व्यष्टि इच्छा (क्रियाजननसामर्थ्य) जो परमेश्वरकी प्रकृतिसे उसे प्राप्त होती है; और, व्यापक-समष्टिकी इच्छाके उपकरण होनेका तथ्य'.''[१२०] शीलिंग्की अद्वैतज्ञानकी प्रक्रियाको फाल्कन्बर्ग् इन शब्दोंमें प्रस्तुत करते हैं:

> ''दो तरहके ज्ञानद्वारा दो तरहकी सत्ताका बोध होता है : असंकीर्ण दार्शनिक तर्कज्ञानके द्वारा अपरिच्छिन्न अविभक्त सत्तावाले परम तत्त्वका बोध होता है, जबकि जबकि संकीर्ण कल्पनाके द्वारा परिच्छिन्न सत्तावाली व्यष्टिरूप वस्तुओंका बोध होता है... दार्शनिक ज्ञानके अनुसार वस्तुके स्वरूपको घड़नेपर वस्तुओंका वैसा ही स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है कि जैसी कि वे परमेश्वरमें होती हैं. परमेश्वरमें सभी वस्तु एकवद्भावापन्न हो जाती हैं. परम तत्त्वमें सभी कुछ तदात्मक होता है... विश्वमें परस्पर विरुद्ध रूपोंवाले जड़-जीवका जो द्वैत अनुभूत होता है,

> उसे परमेश्वरदृष्ट्या देखनेपर न जड़ जड़ रह जाता है और न चेतन चेतन. दोनों ही परस्पराभावरूप विरोधको छोड़ कर उस परमेश्वरमें एकनीड़ हो जाते हैं. विश्वाधार तो आत्यन्तिक निरपेक्ष होता है, जबकि व्यष्टिरूप सभी वस्तु सापेक्ष एकत्व और सकलता लिये होती हैं... प्रकृति अपरिच्छिन्न (एकत्व और तात्त्विक स्वरूप)की परिच्छिन्न(बहुत्व और रूपभेद) में प्रतिकृति होती है और जीव परिच्छिन्नका अपरिच्छिन्नमें उन्नयन होता है... सामान्यबोधके रूपभेद तर्कबोधार्थ पर्याप्त नहीं होते; क्योंकि अविरोधनियममें बंधा सामान्य तर्कशास्त्र दार्शनिक उत्प्रेक्षाओंपर बन्धनकारी नहीं होता, क्योंकि दार्शनिक उत्प्रेक्षा तो परस्पर विरुद्धोंके समीकरणद्वारा ही प्रवृत्त होती है.[१२१]

ज्योर्ज् विल्हेम् फ्रेड्रिक् हीगल्(ई.१७७०-१८३१)ने कान्ट्, फिक्टे और शीलिंग् की विचारधाराओंको एकसूत्र बना कर यह प्रतिपादन किया कि सारी सृष्टि वैचारिकचेतनाका प्रकृतिसे परमेश्वर तकका द्वन्द्वात्मक विकास है. इस विकासकी रूपरेखामें वह वाद प्रतिवाद और संवाद की क्रमिक द्वन्द्वात्मकता अर्थात् विरोध और उसके उपशमन के रूपमें देखना चाहता है. यह विकासकी प्रक्रिया वैचारिक प्रक्रिया जैसी है अतः सृष्टि स्वयं विचारात्मिका होनेसे वैचारिक नियमों वाद-प्रतिवाद-संवादके अनुरोधवश विकसित होती है.[१२२] हीगल्के अनुसार चेतन प्रत्यय प्रत्ययविषयीभूत जड़ प्रकृति और परमात्मरूप परमेश्वर उत्तरोत्तर क्रमशः विकसित हुवे सत्य हैं. इस द्वन्द्वात्मकताके अन्तर्गत प्रत्येक तीसरी कड़ी अपनेसे पहलेवाली दो कड़िओंको निःशेष नहीं करती परन्तु अपनेमें समाहृत कर लेती है. अतएव ज्ञानमीमांसकीय दृष्टिसे कोई भी प्रत्यय एक कड़ीके जैसा एकांगी होनेसे आंशिक सत्य ही प्रकट करता है. अतः इसके निरासक आगामी प्रत्ययद्वारा प्रथम प्रत्यय निरस्त हो जाता है. और इसके भी निरासक पुनः तृतीय प्रत्ययमें पूर्ववर्ती

दोनों प्रत्यय समाहृत हो जाते हैं. और यों यह शृंखला चरम सत्यकी तरफ अग्रसर हो पाती है.

कान्ट्को अभिमत अनुभवातीत आत्मैकत्वावभास (trancsendental unity of apperception) में उसके नोमिनाको भी एकीकृत कर देनेपर फिक्टेको अभिमत अहं (Ego) तत्त्व प्रकट हो जाता है. बृहदारण्यकोपनिषद्के प्रथमाध्यायके चतुर्थ ब्राह्मणमें भी ऐसी ही सृष्टिप्रक्रिया निरूपित हुयी है कि **''परमात्मा अपनी एकाकितामें जब सबसे पहले अपनी अहन्ताके प्रति सचेत हुवा तो अहन्ताके निरूपकके विद्यमान न होनेके कारण उसने अपने-आपको दोमें विभक्त कर लिया. क्योंकि वह अपने-आपके बारेमें 'अहं ब्रह्म अस्मि' ऐसे सोच कर यह सब कुछ बना सो इस 'अहं ब्रह्म अस्मि'के प्रत्ययसे जो भी अपने-आपको मण्डित करता है, वह सब कुछ बन पाता है'.'** [१२३] एक तरहसे यहां भी न केवल सर्वविध बोधोंको ही अपितु सर्वात्म्यैक्यबोधको भी यह 'अहंब्रह्मास्मिता' सुबोध्य बनाती है. अतः कान्ट्की परिभाषाके अनुसार इसे अनुभवातीत आत्मैक्यावभास माना जा सकता है. जहां तक भ्रान्तिके बारेमें इसकी धारणाओंका सवाल है कुछ भी कह पाना मुश्किल लगता है. जो कुछ अनुमान लगाया जा सकता है वह इतना ही कि काश्मीरप्रत्यभिज्ञादर्शनको अभिमत ख्यातिकी जैसी कोई धारणा इसकी भी कदाचित् होगी.

द्वितीय चिन्तक शीलिंग्के विचारोंपर जिओर्दानो ब्रूनो और बारुक स्पिनोज़ा के मतोंका गहरा प्रभाव सभी दर्शनेतिहासविद् स्वीकारते हैं. वाल्लभ वेदान्तमूलक पुष्टिभक्तिसाधना के बहु-आयामी परमेश्वर(=[१]ब्रह्म [२]परमात्मा [३]भगवान् [४]श्रीकृष्ण तथा [५]सेव्यस्वरूप)में से बारुक स्पिनोज़ाकी दार्शनिक धारणाकी और परमात्मरतिकी परिकल्पनामें केवल ब्रह्म और परमात्मा दो ही आयाम उपलब्ध होते हैं. शीलिंगके, जबकि, दार्शनिक चिन्तन और परमेश्वरप्रेम में भगवान्वाला आयाम भी न केवल उपलब्ध होता है अपितु श्रीकृष्णवाले पहलुकी सीमा तक वह प्रत्यासन्न लगता

है. एतदर्थ फाल्कन्बर्ग्के लेखनसे दो-तीन उद्धरण पर्याप्त होंगे :

''मनुष्यका इच्छास्वातन्त्र्य उसे दोनों तरह स्वतन्त्र बनता है. वह सत्यसे मिथ्याकी ओर अग्रसर होना चाहता हो तो वह अपनी आध्यात्मिकताको उपकरण बना कर निजत्वको प्रमुख बना ले अथवा आधिदैविक सहायताद्वारा वह केन्द्रमें स्वयंको रखते हुवे भी अपनी विशेष इच्छाको (परमेश्वरके प्रति अपने**) प्रेमकी इच्छाके आधीन बना ले'.'**(क)

''सृष्टिके आरम्भसे पूर्व परमेश्वर अद्वितीय होता है और अन्तमें वह सर्वात्मैक्यतया अपने-आपको प्रकट करता है. अपनी अद्वितीयावस्थामें उसमें परस्पराभावरूप (या परस्पराभावव्यापकरूप भी**) विरोधी गुणधर्म नहीं होते परन्तु जब वह अपने-आपको अनेकधा विभक्त कर लेता है तब अप्रकाशरूपा प्रकृति एवं प्रकाशरूप आत्मा; इसी तरह, कामना और बोध रूपी द्वैतोंमें भी विभक्त कर लेता है. यों वह निरपेक्ष तत्त्व परमेश्वर व्यक्तिभावापन्न हो जाता है. इस तरह शीलिंग् प्रकृतिवाद-देववाद, द्वैतवाद-परमेश्वरसर्वरूपतावाद और सभी कुछके परमेश्वर होनेपर उपपन्न न होती अशुभकी समस्याका भी समाधान कर देता है'.'**(ख)

''ईसाई चिन्तनकी उत्प्रेक्षाका आन्तिरिक मर्म है परमेश्वरका अवतार जो भारतीय संतोने पहले ही प्रतिपादित कर रखा था. समझनेकी बात यहां यही है कि इसे कोई एक अपवादरूप घटनाके रूपमें नहीं लेना चाहिये प्रत्युत सनातन सत्यके ही रूपमें. ईसाईयतके विकासमें यह अवरोधरूप रहा कि बाइबल, जो भारतीय शास्त्रोंकी तुलनामें उतना उत्कृष्ट नहीं, जितना कि पादरिओंके चिन्तनने उस बाइबलमें जो कुछ अल्पतर था उसे विचारद्वारा महर्घ बनानेमें सफलता पायी है'.'(ग)[१२४]

इस तरह हम देख सकते हैं कि शीलिंगूकी दार्शनिक अवधारणा वाल्लभ वेदान्त तथा पुष्टिभक्ति के साथ कितनी प्रत्यासन्न है. क्योंकि वाल्लभ वेदान्तमें भी जीवके ज्ञातृत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वको पारमार्थिक मानते हुवे इन्हें परमेश्वरमें रही क्रियाशक्ति ज्ञानशक्ति निजानन्दोपभोगशक्ति की आंशिक अभिव्यक्ति माना गया है. अतएव अंशी परमेश्वरके आधीन अंशोंका स्वातन्त्र्य वाल्लभ वेदान्तका भी पक्ष है[१२५] अतएव एकमेवाद्वितीय परमेश्वरने स्वयं अपने-आपको जब अनेकविध अंशोंके रूपमें व्युच्चरित या परिणत किया, तब उस ऐच्छिक या लीलात्मक अन्यत्वके कारण, एकत्र अधिष्ठानमें अन्य आरोप्यमाण धर्म या धर्मी का भास या निश्चय विपर्यासरूपा भ्रान्ति मानी गयी है. अर्थाद् अंशरूप जीव भ्रान्त होता अंशी परमेश्वरकी भ्रामकशक्तिके कारण. अतः उल्लेखनीय अन्तर यहां यह एक अवश्य लगता है कि वाल्लभ वेदान्त सृष्टिके आविर्भाव-तिरोभावको चक्रके रूपमें स्वीकारता होनेसे शीलिंगूके द्वारा प्रस्तावित पहले अद्वितीय और बादमें सर्वात्मैक्य के तथ्यको अपवादरूप एक घटनाके रूपमें लेनेके बजाय ईश्वरेच्छैकतन्त्र सनातन चक्रके रूपमें स्वीकारना अधिक पसन्द करेगा. जहां तक भ्रान्तिके स्वरूपके बारेमें शीलिंगूके विचार क्या होंगे इस प्रश्नके उत्तरकी खोजका है तो पुनः आन्तरिक सुसंगतिके आधारपर यदि किसी तरहकी उत्प्रेक्षा करनी हो तो सत्ख्याति अख्याति या अन्यख्याति ही सोची जा सकती हैं.

हीगलूने द्वन्द्वात्मक विकासकी अवधारणामें तार्किक विरोधोंको दोषरूप माननेके बजाय गुणरूप माननेकी जो बात कही उससे महाप्रभुका **''यत्किञ्चिद् दूषणं त्वत्र दूष्यञ्चापि हरिः स्वयं विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वमत्रैव शोभते'**.[१२६] वचन स्मृतिपथपर बरबस आ जाता है. सर्वाधार सर्वोपादान सर्वकर्ता सर्वान्तर्यामी सर्वकर्मा सर्वनामा सर्वरूप सर्वावभासक उस परम तत्त्वमें विरुद्धधर्माश्रयताका अस्वीकार उसकी इन उल्लिखित विशेषताओंका प्रत्याख्यान ही होगा. चेतनप्रत्यय जड़प्रकृति और परमात्मा के द्वन्द्वात्मक विकासकी

एक जो सीधी रेखा हीगलूने खींची है, वहां वाल्लभ वेदान्त विप्रतिपन्न हो कर यह कहना चाहेगा कि परमात्मावस्था पर्यन्त प्रकृतिके विकसित हो जानेपर पुनः द्वितीय चक्रमें परमात्मा प्रकृतिभावापन्न होता है, यों पुनःपुनः सृष्टि-प्रलयका चक्र चलता रहता है. भ्रान्तिके बारेमें भारतीय अवधारणाओंमें से कौन सी अवधारणा हीगलूके मतसे सुसंगत होगी, इस जिज्ञासाके समाधानतया उसके तार्किकवादमूलक काल्पनिकवादी होनेके तथ्यपर तथा जड़प्रकृतिको चेतनप्रत्ययसे प्रकटी होनेकी कथापर लक्ष्य देनेपर, साथ ही साथ द्वन्द्वात्मक विकासकी अवधारणामें प्रत्येक तृतीय प्रत्यय प्रत्येक प्रथम-द्वितीय प्रत्ययोंके पारस्परिक विरोधोंका एक अविरुद्ध आश्रय होता है, इतना सब स्पष्ट होनेके बाद ख्यातिके बारेमें कुछ भी कथनीय नहीं रह जाता है.

निरपेक्ष और सापेक्ष के बीच रहा प्रभेद आत्यन्तिक न हो कर आगन्तुक होता है, यह हीगलूकी बहोत बड़ी वैचारिक उपलब्धि वाल्लभ वेदान्ती स्वीकारना चाहेगा. हीगलूके द्वारा प्रस्तावित प्रत्ययसे प्रकृति और प्रकृतिसे परमात्मा पर्यन्तके इस द्वन्द्वात्मक विकासको बादमें कार्ल मार्क्सने शीर्षासननिरत मान कर उसे पैरपर खड़ा करनेको द्वन्द्वात्मक भौतिकवादका प्रवर्तन किया. इस विषयमें वाल्लभ वेदान्त **''आधिदैविकता→ आध्यात्मिकता→ आधिभौतिकता→ आध्यात्मिकता→ आधिदैविकता...''** को चक्रके रूपमें मानता है. अतः इस सनातन चक्रमें किसी भी एक कड़ीसे दुराग्रहपूर्ण प्रारम्भ स्वीकार लेनेके कारण अन्य कड़ीसे आरम्भ माननेवालेको शीर्षासनमुद्रामें मान लेनेकी मनोवृत्ति भी स्वयं एक शीर्षासनयोग ही है. द्रष्टव्य :

> **''उस आश्रयको 'परंब्रह्म' 'परमात्मा' कहा जाता है. यह जो आध्यात्मिक पुरुष है वही आधिदैविक भी है, परन्तु, इन दोनोंमें आधिभौतिक पुरुषके कारण विच्छेद प्रकट हो जाता है. इन आध्यात्मिक और आधिभौतिक मेंसे किसी एकतरके अभावमें जब दूसरा अवगत नहीं हो पाता तब भी तीनोंका ही अवगम जिसे अक्षुण्ण**

रहता है वह स्वाश्रयाश्रय आत्मा होता है. क्योंकि एक देव जब योगशय्यासे समुत्थित हो कर नानात्वकी अन्वेषणा करता है, तब वह अपने हिरण्मय वीर्यको मायाद्वारा त्रिधा विभक्त कर देता है : अधिदैव अध्यात्म और अधिभूत के रूपोंमें'.[१२७]

यह तो सत्य है कि आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों परस्पर विरोधी गुणधर्मवाले होते हैं, परन्तु त्रितयाश्रयीभूत त्रितयसाक्षी एक परम सत्य ऐसा भी होता है कि जो इन तीनों रूपोंको अपने भीतर प्रकट और तिरोहित करता रहता है. अन्तर केवल यही है कि आधिदैविक रूपको अपने आधिभौतिक और आध्यात्मिक के साथ रहे मौलिक तादात्म्यका बोध सहज रहता है. आध्यात्मिक रूपको, किन्तु, यह तादात्म्यबोध तभी शक्य होता है जब आधिभौतिक रूपद्वारा प्रतिभासित विच्छेदसे उसका बोध आच्छादित न हो जाये. परब्रह्म परमात्मा भगवान्में ये तीनों ही न केवल एकनीड़ हो कर रहते हैं अपितु परस्पर तादात्म्यभावापन्न हो कर भी. अस्तु.

३.हर्बार्ट्, शोपेन्हॉवर् और लोट्ज् : इस तरह इमानुएल् कान्ट्के बाद एकत्ववाद/बहुत्ववाद आनुभविकवाद/तार्किकवाद एवं बाह्यार्थास्तित्व-वाद/काल्पनिकवाद के आपसी वैकल्पिक योग एवं विरोधाभासोंमें वस्तुके वास्तविक स्वरूपको खोजने और पहचानने का दौर चल पड़ा.

जॉहन् फ्रेड्रिक् हर्बार्ट्(ई.१७७६-१८४१) फिक्टे शीलिंग् और हीगल् के काल्पनिकवादोंसे असहमत और लाइप्नित्ज्के बहुत्ववादसे सहमत था. वह बाह्यार्थ सत् या वस्तु के वास्तविक स्वरूपको, कान्ट्की तरह अज्ञेयताके अभिप्रायवश नहीं प्रत्युत ज्ञेयतया देशकालातीत अपरिणामी निरपेक्ष तथा अविभाज्य मानता था. इन्द्रियजन्य प्रतिभास अकारण हो नहीं सकते अतः कारणतया बाह्यार्थकी सत्ताके बारेमें कान्ट्की तरह वह भी निश्चित था. निष्कर्षतया द्रष्टा और दृश्य दोनोंको ही

इन बाह्यार्थोंके ही विविध संघात मानता था. आनुभविकवादिओंकी तरह यह भी अन्तःकरणको बाह्यार्थप्रतिभासजन्य प्रत्ययोंका आयोजन मानता था. इस मतको हीगेलियन समीकरणद्वारा सोचना हो तो यों कहा जा सकता है **''लाइप्नित्ज्मत(वाद) + कान्ट्मत(प्रतिवाद) = हर्बार्ट्मत(संवाद)''** . भ्रान्तिके बारेमें इसके विचार लगता है कि बाह्यार्थवादी बौद्धोंके या माध्वोंके जैसे होंगे.[१२८]

आर्थर् शोपेन्हॉवर्(ई.१७८८-१८६०) यह भारतीय औपनिषदिक, बौद्ध तथा कान्ट् की विचारधाराओंसे बहुत प्रभावित था. यहूदी ईसाई तथा इस्लाम के विचार इसे सुहाते नहीं थे. कान्ट्को अभिमत वस्तुके वास्तविक अज्ञेय स्वरूपको शोपेन्हॉवर्ने काम (Will), या बौद्धपरिभाषाके अनुसार सोचना हो तो वासना, के रूपमें निहारना चाहा. यद्यपि श्रुतिके **''कामः तदग्रे समवर्ततादि''- ''सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय'**.[१२९] वचनोंमें कामको ब्रह्मकी कारणावस्थाभिमुखताके रूपमें प्रतिपादित किया गया है. उपनिषद्, किन्तु, उसे सुकृत **''यद्वै तत् सुकृतम्'**.[१३०] भी मानता है. वैसे शोपेन्हॉवर भी कामको परमेश्वरके साथ जोड़ना चाहता है, परन्तु, यह काम या वासना शुभ न हो कर बौद्ध मतकी तरह सर्वानर्थमूल अशुभ है. बर्ट्रेड् रसेल् कहते हैं कि इस चिन्तकके अनुसार शरीर एक प्रतिभासमात्र है और शरीरकी वास्तविकता यही है कि यह वासनाके अलावा अन्य कुछ नहीं है. रसेल् इसके मतको उद्धृत करते हुवे यह भी कहते हैं कि **''शोपेन्हॉवर् मानता है कि जो कुछ हम सामान्यतया ज्ञानके रूपमें सोचते-विचारते हैं वह मायाकी परिधिमें आती ही बात है. इस मायाके आवरणको चीर कर जब किन्तु हम भीतर ताकते हैं तब परमेश्वरके बजाय सर्वशक्तिमान् दुष्ट शैतान हमें दिखलायी देता है, जो अपनी सृष्टिमें पैदा किये गये जीवोंको अधिकाधिक त्रास पहुंचानेके उपायोंकी उधेड़बुनमें निरन्तर रचा-पचा रहता है'**.[१३१] इस कष्टसे मुक्तिके उपायतया शोपेन्हॉवर् ब्रह्मसायुज्यादिरूपा मुक्तिकी लालसाको मूर्खता मान कर निर्वाण अर्थात् शरीरके सन्दर्भमें

आत्मघात नहीं परन्तु आत्मभावविलोपनको ही परम श्रेयोरूप मानता है. क्योंकि सशरीर या अशरीर किसी भी रूपमें हमारे विद्यमान रहनेपर सृष्टमात्रके अस्तित्वकी हेतुरूपा वासनासे मुक्ति शक्य नहीं. भ्रान्तिके बारेमें इसके विचारसूत्रोंको खोजना वस्तुतः एक कठिन कार्य है. क्योंकि वासनाको विवर्तोपादान नहीं मानता प्रत्युत परिणाम्युपादान मानता है. बाह्य शरीरको पुनः प्रतिभासमात्र मानता है. परमेश्वरको शुभ माननेके बजाय अशुभ मानता है. साथ ही साथ आत्मनाश या निर्वाण में अपना परमश्रेय खोजता है. फलतः भारतीय दर्शनाभिमत किसी भी मानदण्डके आधारपर इस चिन्तकको मापना अतीव दुष्कर है.

फिरभी एक बात अवश्य उल्लेखनीय लगती है कि शोपेनूहॉवर्को अभिमत निर्वाणको यदि हम नियत भवितव्य मानते हैं, अर्थात् व्यक्तीच्छाके अपराधीन, तो पुनः सर्वोपादानभूत काम या वासना से नियत त्रासदतन्त्रका ही कोई एक रूप उसे मानना पड़ेगा. यदि आगन्तुक आकस्मिक मानते हैं, तब तो कुछ भी कथनीय नहीं रह जाता. यदि आगन्तुक ऐच्छिक उपायोंसे लभ्य मानते हैं तो पुनः उपायावलम्बनार्थ किसी न किसी तरहके काम या वासना का सहारा लेना ही पड़ेगा! वैसे शांकर वेदान्तमें अभिमत निखिल द्वैतनिरासिका ''अहं-ब्रह्मास्मि'' वृत्तिकी तरह निःशेष अनर्थनिरासके बाद कतकरेणुकी तरह निर्वाणेच्छाको भी सकल वासनाके क्षालनके बाद स्वतः भी निःशेष होती मानी जा सकती है. वाल्लभ वेदान्त इसे अनुभवातीत आत्मघातके (trancsendental suicide) के रूपमें ही देखना चाहेगा! सामाजिक व्यक्ति, निराशावादी होनेपर, प्रायः आनुभविक आत्मघात (empeirical suicide) करता है. शोपेनूहॉवर्, परन्तु, निराशावादी दार्शनिक होनेसे अनुभवातीत आत्मघातकी वक़ालत करता है!!

रुडाल्फ् हर्मन् लोट्ज़ (ई.१८१७-१८८१) पुनः काल्पनिकवादका अनुगामी था. कान्ट्को अभिमत वस्तुके वास्तविक अज्ञेय स्वरूपको

वह अन्तःकरणरूप ही मानता था. जड़ पदार्थोंमें भी अन्तःकरणको सावरण विद्यमान मानता था, जबकि, मनुष्यमें उसे सभान एवं स्पष्ट मानता था. इस तरहका मत पहले भी हम देख ही चुके हैं.

४.जे.एस्.मिल्, स्पेंसर्, जोशिया रोयस् और ब्रेड्ले : इमानुएल कान्ट्को अभिमत अज्ञेयवादरूपी सूर्यके इर्दगिर्द मंडराती इन चिन्तकोंकी विचारधारायें कभी आनुभविकवादमूलक काल्पनिकवाद तो कभी तार्किकवादमूलक काल्पनिकवाद रूपी ग्रहोंकी जैसी थी.

जेम्स् स्टुअर्ट् मिल् (ई.१८०६-१८७३)काल्पनिकवादी था. अनुमानमें व्याप्तिनिर्धारणके नियमों अर्थात् उपनयात्मिका अनुमितिमें साहचर्यके उदाहरणोंमें अन्वय-व्यतिरेकोंके नियमोंको खोजनेके बारेमें उसका अवदान उल्लेखनीय है.

हर्बर्ट् स्पेंसर् (ई.१८२०-१९०३) पुनः अज्ञेयवादी ही था. निरपेक्ष सत् तो, मिल्के अनुसार भी, अज्ञेय ही होता है परन्तु उसकी आन्तर एवं बाह्य अभिव्यक्तिओंको हम जान पाते हैं. स्पेंसर्, परन्तु, हमारे अन्तःकरणसे बाह्य वस्तुके आनुमानिक अस्तित्वमें मानता था, भारतप्रभव बौद्धोंके एक अन्यतम सम्प्रदाय बाह्यार्थानुमेयवादिओंकी तरह ही.

जोशिया रोयस् (ई.१८५५-१९१७) इसका मत बिशप् बर्कलेके मतका अमरीकी संस्करण था.

फ्रांसिस् हर्बर्ट् ब्रेड्ले (ई.१८४६-१९२४) काल्पनिकवादी था. इसके अनुसार भौतिक पदार्थोंके प्राथमिक (इन्द्रियप्रतिभासित) गुणधर्म और आनुषंगिक (प्रतिभाससंघातरूप) गुणधर्म दोनों ही प्रातिभासिक ही होते हैं. अतः ब्रेड्लेके मतमें ऐसे प्रभेदका ही कोई वास्तविक आधार

नहीं होता. ब्रेड्लेके अनुसार देश काल वस्तु और आत्मा सभी कुछ प्रतिभासिक ही होते हैं, वास्तविक नहीं. क्योंकि इनके पारस्परिक प्रभेदार्थ इन्हें परिभाषित करनेका प्रयास करते ही उन परिभाषाओंमें अन्योन्याश्रय, शब्दज्ञानानुपातिनी वस्तुशून्यरूपा विकल्पता और विसंगति रूप अनेक दोष उजागर हो जाते हैं.

ब्रेड्ले कहते हैं कि सत्यका तार्किक स्वरूप जैसे स्वतोव्याहत नहीं होना चाहिये ऐसे ही तात्त्विक स्वरूप उसका एकमेवाद्वितीय होना चाहिये. ब्रेड्लेका यह भी कहना है कि सत्यका ज्ञानमीमांसकीय स्वरूप अनुभवात्मक होना चाहिये. अतः अवश्य ही कुछ न कुछ सत्य अथवा परमतत्त्व होता तो है, क्योंकि प्रत्येक प्रतिभास किसी सद्वस्तुका ही अन्यथा प्रतिभास होता है. प्रत्येक निश्चयात्मक अवधारणामें किसी सत्य उद्देश्यके बारेमें किसी दूसरे प्रत्ययका विधेयतया बोध होता है. और इसे तभी तक सत्य माना जा सकता है, जब तक वह विधेय प्रत्यय उद्देश्यसे विसंवादी न लगता हो. क्योंकि विधेय सभी कल्पित प्रत्ययात्मक ही होते हैं; अतः, प्रत्येक सत्य आंशिक सत्य ही हो सकता है. अतएव प्रत्येक भ्रम या त्रुटि भी आंशिक सत्य ही होती हैं. [१३२]

ब्रेड्लेकी सत् (Reality) की अवधारणा शांकर वेदान्ताभिमत परमार्थ सत्की अवधारणासे अतीव भिन्न रीतिकी है फिर भी भ्रान्ति(error)के बारेमें उसके विचार शांकर वेदान्तको अभिमत अनिर्वचनीयख्यातिवादके साथ पर्याप्त प्रत्यासन्न हैं. शांकर वेदान्तकी तरह ही ब्रेड्ले भी सत्ताके विभिन्न स्तर स्वीकारता है परन्तु उसे द्वैविध्य या त्रैविध्य के भीतर परिगणित नहीं करना चाहता :

> **"परम/चरम तत्त्वका स्वरूप स्तरोंमें विभक्त नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो परिपूर्ण होता है और परिपूर्णमें न्यूनाधिक्यभाव सोचा ही नहीं जा सकता. अतः यह**

तो प्रातिभासिक जगत्का ही गुण हो सकता है... (प्रमात्मक बोध या प्रतिज्ञा में प्रतिभासित होते धर्मी और धर्म, अथवा उद्देश्य और विधेय, न तो सर्वथा अभिन्न हो सकते हैं न सर्वथा भिन्न ही. क्योंकि उभयथा धर्मिधर्मभाव या उद्देश्यविधेयभाव उपपन्न नहीं हो पायेगा) **अतः हमारे प्रत्येक प्रमाबोधको या प्रामाणिक प्रतिज्ञाको औपाधिक मानना पड़ता है. क्योंकि धर्म या विधेय अपनेसे भिन्न किसी(देश-कालादि)के सन्दर्भमें ही वे सत्य या असत्य हो पाते हैं. अतः प्रत्येक धर्म या विधेय औपाधिक ही सिद्ध होते हैं... और यहां तक पहुंचनेपर सत्य और मिथ्या प्रतिभास के संगमस्थल तक हम पहुंच जाते हैं. अतः प्रतिभासित होते जगत्में न तो कुछ पूर्णतया सत्य होता है और न पूर्णतया असत्य ही... प्रयोजनविशेषवश हमारे किसी विचारको सर्वथा सत्य या सर्वथा असत्य माना भी जा सकता है, परन्तु चरम सत्यके मानदण्डके अनुसार उसे मापनेपर प्रत्येक सत्य या असत्य आपेक्षिक स्तरोंपर ही न्यूनाधिक सत्य या असत्य सिद्ध होते हैं.**

अतः किसीका न्यून या अधिक प्रमाणिक या सत्य होना, चरम सत्यके साथ उसके अल्प या अधिक अन्तरालवश होता है. अर्थात् स्वयंमें अन्य कितने प्रत्ययोंके अन्तर्भावकी क्षमता; और, आत्मसुसंगति पर निर्भर होता है. दो प्रतिभासोंके बीच एक यदि अधिक व्यापक और अधिक सुसंवादी हो तो वह अधिक सत्य होता है. जैसे-जैसे अधिकाधिक अन्यान्य प्रतिभासोंको अपने भीतर अन्तर्भूत करनेकी क्षमताकी ओर कोई प्रतिभास अग्रसर हो पाता है, वैसे-वैसे वह अधिक सत्य होता जाता है... किसी सत्य या तथ्य को चरम सत्य तक पहुंचना हो तो उसमें कितना अल्प अन्य कुछ जोड़ना या पुनःसंयोजित करना पड़ता है, इसपर उसकी अधिकाधिक सत्यता निर्भर होगी. यही

है आशय सत्य या प्रमेय के स्तरोकी विभिन्नताका...

किसी भ्रमात्मक प्रतिभासका पूर्णतया भ्रान्ति होना, अतः, इसपर निर्भर करता है कि जब उसे सत्यके समीप ले जाया जाये तो वह अपना विशेष स्वरूप खोते-खोते स्वयं निःशेष हो जाता है या नहीं... अतः प्रत्येक प्रत्यय कितना भी कल्पित क्यों न हो कुछ न कुछ सत्य तो उससे इंगित होता ही है'.'[१३३]

ब्रेड्लेके द्वारा प्रदत्त इस तरहके सत्यके विवरणकी शांकर वेदान्तको अभिमत परमार्थ सत्यके साथ किसी भी तरहकी संगति खोजना स्वयंमें एक भ्रान्ति होगी; फिरभी, एक तथ्य यह भी है कि शांकर वेदान्ताभिमत अनिर्वचनीयख्यातिवादके साथ भ्रान्तिके बारेमें ब्रेड्लेकी धारणा चमत्कारितया प्रत्यासन्न है. उल्लिखित ग्रन्थमें ब्रेड्लेने सम्पूर्ण सोलहवां परिच्छेद इसी विषयमें लिखा है. इसमें वह स्वयंको अमान्य भ्रान्तिविवरणोंके बारेमें यों कहते हैं कि **''कुछ लोगोंके अनुसार इन्द्रियप्रदत्त अनुभूतिसे अन्यत्र भटक जानेपर भ्रान्ति होती है. अथवा आन्तरिक प्रत्ययोंका बाह्यानुभूत विषयके साथ विपर्यास या संकीर्णता भ्रान्ति होती है. ये दोनों ही परन्तु छिछली धारणायें हैं'.'** ब्रेड्ले कहते हैं **''भ्रान्तिकी व्याख्या करनेके प्रयासमें सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि एक तो सामान्यतया सत्ता और असत्ता के बीच मध्यपाती कुछ होता हो ऐसा माना नहीं जाता; और, दूसरी बात यह है कि भ्रान्ति न तो सत्य सिद्ध हो पाती है और न असत्य ही. भ्रान्ति तो इन दोनोंसे कुछ तृतीय ही होना चाहती है कि इसके विषयका कहीं भी अस्तित्व नहीं होता परन्तु फिर भी कहीं न कहीं तो होता ही है. मिथ्या प्रतिभासमें सत्यके साथ कुछ न कुछ ऐसा जोड़ा जाता है कि जो वस्तुतः उससे जुड़ा हुवा न हो. भ्रान्तिपूर्ण प्रतिभास यदि होते ही नहीं तो उनका अनुभव भी होना नहीं चाहिये था, परन्तु उनका अनुभव इस बातकी भी गवाही देता है कि वे वस्तुतः कहीं भी नहीं है, अतः प्रतीतिवश**

होते होनेपर भी वस्तुतः वे नहीं होते'.'[१३४]

इस तरह हम देख सकते हैं ब्रेड्लेका चरम सत्य वाल्लभ वेदान्तके परब्रह्मके साथ कुछ सादृश्य रखता होनेपर भी सत्यके प्रतिभास, विशेषतः भ्रान्तिपूर्ण प्रतिभास, के बारेमें उनके विचारोंमें उभरी आंशिकताकी अवधारणा और उसके कारण सत्ताके स्तरके भेदकी अवधारणा ब्रेड्लेको शांकर वेदान्तके अनिर्वचनीयख्यातिवादके समीप ले जाती है.

(८)उपयोगितावादी चिन्तन :

भारतीय ज्ञानमीमांसामें **''लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः''-''मानाधीना मेयसिद्धिः मानसिद्धिश्च लक्षणात्''** सूत्रोंका अवलम्बन किसी भी तरहके विचारमें प्रायः सर्वतन्त्रसिद्धान्ततया स्वीकृत हुवा है, वैसे वैतण्डिकोंकी विचारनीतिकी कथा तो विलक्षण ही होती है! अतः अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भवदोषोंसे रहित लक्षण मिलनेपर वस्तुकी सम्भावना प्रबल होती मानी जाती है. वस्तुकी सिद्धिके लिये, परन्तु, किसी न किसी तरहके अपरोक्ष या परोक्ष अनुभवकी गवाही अनिवार्य होती है, केवल निर्दुष्ट लक्षण पर्याप्त नहीं होता. अतः वस्तुसिद्धिके लिये प्रमाणकी अपेक्षाके सन्दर्भमें ही किसी प्रमाणके प्रमाण होनेका गुणधर्म क्या-कैसा होता है? इस बारेमें विचार करते समय प्रमुख चार पक्ष प्रस्तुत हुवे हैं :

[१]प्रत्येक प्रमाणका प्रामाण्य स्वतः होता है और अप्रमाणका अप्रामाण्य भी स्वतः ही.

[२]प्रत्येक प्रमाणका प्रामाण्य परतः होता है और अप्रमाणका अप्रामाण्य भी परतः ही.

[३]प्रत्येक प्रमाणका प्रामाण्य परतः होता है परन्तु अप्रमाणका अप्रामाण्य स्वतः ही.

[४]प्रत्येक प्रमाणका प्रामाण्य तो स्वतः होता है परन्तु अप्रमाणका अप्रामाण्य परतः ही.

यह स्वतः या परतः के विकल्पोंमें ज्ञानकी जनक जो सामग्री होती है वही उसमें अपनी विश्वसनीयताकी गवाही भी देती है या नहीं इस बातपर अवलम्बित होती है. परन्तु किसी ज्ञानको प्रमाणतया मान्य रखनेके निकर्षोंके बारेमें भी बहुविध उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की गयीं हैं :

[१]ज्ञान और ज्ञेय के परस्पर अविसंवादी होनेपर ज्ञानको प्रमाणतया मान्य करना चाहिये. इस पक्षको स्वीकारनेवाले प्रमाणकी परिभाषा **''यथार्थानुभवः प्रमा''** देना पसन्द करते हैं. अर्थात् ज्ञेयतया अवभासित अर्थ वस्तुतः जैसा हो ऐसा ही ज्ञानमें भी अवभासित होता हो तो ज्ञानको प्रमाणतया मान्य करना चाहिये. स्पष्ट है कि ज्ञेयावभासक ज्ञानसे भिन्न अन्य किसी ज्ञानद्वारा ही ज्ञेयावभासक ज्ञानके प्रामाण्यका निर्धारण होना है. अतः यह परतःप्रामाण्यवादका अंगीकार है. पश्चिमी दर्शनमें इसे *'थिअॉरी ऑफ कॉरस्पोंडेंस्'* अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय के बीच परस्पर संवादके रूपमें प्रस्तुत किया गया.

[२]एक ज्ञानके दूसरे ज्ञानसे परस्पर अविसंवादी होनेपर दोनों ज्ञानोंको प्रमाणतया मान्य करना चाहिये. इस पक्षको स्वीकारनेवाले प्रमाणकी परिभाषा **''अनधिगताबाधितार्थविषयकं ज्ञानं प्रमा''** देना पसन्द करते हैं. अर्थात् ज्ञेयावभासक ज्ञानके अलावा अन्य किसी ज्ञानसे उस ज्ञेयार्थका अवभासन ही नहीं होता हो और प्रस्तुत ज्ञेयावभासक ज्ञानका अन्य किसी ज्ञानसे बाध भी न होता हो तो ऐसे ज्ञानको प्रमाणतया मान्य रखना चाहिये. यह स्वतःप्रामाण्यवादी अवधारणा है. इसे पश्चिमी दर्शनमें *'थिअॉरी ऑफ कोहिएरेंस्'* कहा गया. अर्थात् दो ज्ञानोंके बीच परस्पर अविसंवाद.

[३]किसी ज्ञेयावभासक ज्ञानके कारण उस ज्ञेयके बारेमें जो हानोपादानोपेक्षात्मिका प्रवृत्ति प्रकट होती है; अर्थात्, हेय वस्तुके बारेमें हानरूपा, या उपादेय वस्तुके बारेमें उपादानरूपा अथवा उपेक्ष्य वस्तुके बारेमें उपेक्षारूपा प्रवृत्तिके सफल होनेपर प्रवृत्तिजनक ज्ञानको प्रमाणतया मान्य करना चाहिये. अन्यथा विफल होनेपर उसे अप्रमाण मान लेना चाहिये. इस पक्षको स्वीकारनेवाले प्रमाणकी परिभाषा **''फलाविसंवादिप्रवृत्तिजनकं ज्ञानं प्रमा''** देना पसन्द करते हैं. इसे पश्चिमी दर्शनमें *'युटेलिटेरीअन् थिअॉरी ऑफ् ट्रुथ्'* या *'प्रेग्मेटीज़म्'* भी कहा जाता है.

सत्यको मानवीय उपयोगिताके आधारपर सत्यतया स्वीकारनेकी यह विचारनीति है. भारतवर्षमें बौद्धोंने शताब्दिओं पूर्व इसे प्रस्तावित किया था. अमेरिकामें इसे सर्वप्रथम विलियम् जेम्स्ने प्रवर्तित किया. वैसे जहां तक वाल्लभ वेदान्तके इस बारेमें अभिप्रायका सवाल है प्रस्थानरत्नाकरकारने[१३५] अर्धजरतीयन्यायानुसार कहीं प्रामाण्य स्वतः होता है तो कहीं परतः होता है ऐसी अपनी मान्यता स्पष्ट की है.

मेरी अपनी समझ इस बारेमें इस तरहकी है कि किसी प्रमेयके किसी एकमात्र प्रमाणसे गम्य होनेपर **''अनधिगताबाधितार्थविषयकं ज्ञानं प्रमा''** वचनद्वारा परिभाषित स्वतःप्रामाण्यका परिग्रह आवश्यक होता है. किसी प्रमेयके एकाधिक प्रमाणसे गम्य होनेपर, तथा उन दो प्रमाणोंके बीच विरोधाभास या विसंवाद प्रतीत होनेपर तो, किसी तृतीय ज्ञानके आधारपर ही, जो अबाधित या बाधानर्ह लगता हो ऐसी उस एकतर अनुभूतिका याथार्थ्य स्वीकारना चाहिये. यह **''यथार्थानुभवः प्रमा''** परिभाषोक्त प्रकारसे परतःप्रमाण्यका परिग्रह होगा. असकृद् विभिन्न प्रमाणोंके द्वारा विमर्श करनेपर भी प्रामाण्यपरिग्रह शक्य न हो तब तो अगतिकतया उनमें जो भी प्रमाण **''फलाविसंवादिप्रवृत्तिजनक ज्ञानरूप या तज्जनक हो''** उसके ऐसे परतःप्रामाण्यका परिग्रह करना ही पड़ेगा. यों तीनों ही प्रक्रियाओंको परस्परोपकारकतया लेना चाहिये, बजाय कि इन्हें

परस्पर विरोधी प्रक्रियाओंके रूपमें स्वीकारनेके. वास्तविक फलितार्थ अर्धजरतीयन्यायका यही लिया जाना चाहिये.

विलियम् जेम्स् और जॉह्न् ड्यूई : उपयोगितावादके बारेमें विलियम् जेम्स् (ई.१८४२-१९१०) स्वीकारता था कि उसने यह मत चार्ल्स् एस् पियर्स् (ई.१८३९-१९१४)के द्वारा प्रवर्तित विचारोंके आधारपर सोचा था परन्तु पियर्स् इससे सहमत नहीं था.[१३६] इस मतके प्रचारकतया ख्याति विलियम् जेम्स्की ही अधिक हुयी है.

इस चिन्तकके अनुसार प्रत्यय कोई तभी सत्य हो पाता है जब वह कार्यक्षम हो. सत्य वही होता है जो विचारमार्गमें उपयोगी होता हो. सत्यके बारेमें ऐसा सिद्धान्त उसके वस्तुनिष्ठ होनेके बजाय व्यक्तिकी रुझानके साथ जुड़ा हुवा लगता है, ऐसी आपत्तिका समाधान इस तरह इस मतमें दिया गया है कि मूलतः बोध अव्यवहित प्रात्यक्षिक अनुभवपर और प्रत्ययोंके सन्तोषकारी उपयोगपर निर्भर होता है. प्रत्यय (प्रतिज्ञावचन) तभी सत्य हो सकता है जबकि उसके अनुसार कार्यानुष्ठान करनेपर जो कुछ प्रत्यक्षतया उपलब्ध्यर्ह हो वह उपलब्ध हो जाये. अतः कोई भी सत्य प्रतिज्ञावचन हमारी अपेक्षाओंको पूर्ण करनेवाला होता है. कोई भी प्रत्यय तब तक सन्तोषप्रद नहीं हो पाता जब तक वह प्रत्ययाश्रयी व्यक्तिको वास्तविकताके साथ सुसंवादितया सम्बद्ध न बना पाता हो. यह ठीक है कि सन्तोष एक वस्तुनिष्ठ गुण होनेके बजाय व्यक्तिनिष्ठ गुण होता है फिरभी इसे वस्तुगत सत्यका लिंग माना जा सकता है.[१३७] जेम्स्, अतएव न तो बाह्यार्थ और न आन्तरिकार्थ को वास्तविक प्रमेय मानता है. वह तटस्थाद्वैतवादी (Neutral Monist) था. अतएव उसका कहना है कि

> **'' 'चेतना' तो एक असद्वस्तुका नाममात्र है, और इसे किसी प्राथमिक पदार्थोंके स्थानपर अधिष्ठित होनेका**

> **कोई भी अधिकार नहीं होता. जो अभी तक इसके साथ लगन लगाये हुवे हैं वे केवल ओझल होती जीवात्माकी किंवदन्तीकी क्षीयमाण प्रतिध्वनिकी लगनी लगाये हुवे हैं, जो दर्शनशास्त्रके वातावरणमें अभी भी विद्यमान है'', ''शुद्धानुभूतिके सिद्धान्तके अनुसार हमने अपनी अनुभूतिके समुदायों, जो समुदाय अपने प्रतिवेशी अनुभूतिओंके साथ कैसे बरतते , उसके दो तरहके 'बाह्य' और 'आन्तर' ये नाम घड़ लिये हैं'.''[१३८]**

सत्यके बारेमें इस उपयोगितावादी दृष्टिकोणके विरुद्ध प्रायः यह युक्ति दी जाती है कि किसी व्यक्तिको अपनी मानसिक अस्वस्थतावश पनपे भ्रान्त प्रत्ययका भी अवलम्बन करना जीवनोपयोगी हो सकता है. एतावता स्वस्थ मानसिकतावाले अन्य पुरुषोंके लिये ऐसे प्रत्ययका प्रामाण्य कहां तक मान्य हो सकता है? इस विषयमें विलियम् जेम्स्का, किन्तु, कहना है—

> **''उपयोगिताकी प्रक्रिया एक ऐसी जटिल प्रक्रिया है कि जिसमें व्यावहारिक समस्याओंका ही नहीं अपितु सैद्धान्तिक समस्याओंका भी समाधान हमें खोजना होता है. इसके अलावा हमें अपरोक्षानुभूतिओं तथा परोक्षप्रत्ययों के अनुसार होते बोध और सम्पूर्ण जगत् की आपसी सुसंवादिताके बिना सर्वतोमुख सन्तोष भी हो ही नहीं सकता'.''[१३९]**

अतः सुनने मात्रसे यह सिद्धान्त केवल एक वैचारिक तरंग जैसा लगता भी हो परन्तु उतना थोथा इसे नहीं माना जा सकता. सत्यसे जुड़े प्रत्यय अपने प्रत्येक उदाहरणमें चाहे फलाविसंवादिप्रवृत्तिजनक होते हों या न होते हों; अथवा, फलाविसंवादिप्रवृत्तिजनक प्रत्ययोंके द्वारा उपस्थापित विषय अपने सभी उदाहरणोंमें वस्तुतः सत्य होते

हों या न भी होते हों, परन्तु सत्यसे जुड़ा हुआ कोई प्रत्यय यदि फलाविसंवादिप्रवृत्तिजनक न हो पाता हो तो उसका सत्यके साथ जुड़े होना तो निश्चित ही सन्दिग्ध हो जाता है.

जॉन्ह ड्यूई (ई.१८५९-१९५२)तो किसी समस्याके समाधानार्थ प्रवृत्त चिन्तनको ही वास्तविक चिन्तन मानता था. कल्पनाओंकी किसी ऊंचाई या गहराई में उड़ने या भीतर डुबकी लगानेपर भी जब तक हमारी समस्याओंके समाधानार्थ हमें कोई सूत्र या प्रत्यय प्राप्त नहीं होता तब तक वह चिन्तन ड्यूईके अनुसार प्रामाणिक चिन्तन नहीं माना जा सकता.

बौद्ध-जैनोंकी आर्यसत्यचतुष्टयी-रत्नत्रयीसे लेकर ब्राह्मणोंके षड्दर्शनोंमें विविध मोक्षोपायोंके विचारार्थ दार्शनिक चिन्तनकी मनोवृत्ति भामतीकारके **''अथ यद् असन्दिग्धम् अप्रयोजनं च न तत् प्रेक्षावत्प्रतिपित्सागोचरम्'.**'[१४०] इस प्रसिद्ध उद्गारमें प्रकट हुयी है. यह सत्यके उपयोगितावादी आदर्श (Pragmatic Truth Value) का यथाकथञ्चिद् अंगीकार नहीं तो और क्या है! अतः इन उपयोगितावादी चिन्तकोंकी भ्रान्तिके बारेमें जो अवधारणा होंगी उन सबके निष्कृष्टार्थतया यही सोचा जा सकता है कि जो प्रत्यय फलसे विसंवादी प्रवृत्तिका जनक हो उसे कदापि प्रामाणिक तो नहीं माना जा सकता; और, इस मतके साथ वाल्लभ वेदान्त चाहे तो भी मतभेद रख नहीं सकता है.

रही बात बाह्यार्थ और आन्तरार्थ के अस्वीकारपूर्वक तटस्थ अद्वैतवादकी तो वाल्लभ वेदान्त यह कहना चाहेगा कि अर्थक्रियाकारितारूपा सत्ता या फलाविसंवादिप्रवृत्तिजनक बोधोंके बाह्यार्थ एवं आन्तरार्थ दोनों ही यदि हेतु न बनते होते तो उपयोगितावादी चिन्तन भी न आन्तरमें शक्य हो पाता और न बाह्य फलोपलब्धिमूलक प्रवृत्तिसाफल्यका उपपादन ही शक्य हो पाता. अतः सृष्टिके मूल तत्त्वको 'जड़जीवभावातीत'

तो वाल्लभ वेदान्त भी स्वीकारने उद्यत होगा ही. एतावता केवलाद्वैतवादकी तरह स्वयम्प्रकाश होने मात्रसे उसे ज्ञातृज्ञेयभावातीत या विषयविषयिभावातीत मान लेने वाल्लभ वेदान्त सहमत नहीं होता. मूल ब्राह्मिक चेतना ही स्वयम्प्रकाशरूपा होनेसे; और अतएव, विषय-विषयिभावात्मना आत्मविभाजन करने समर्थ भी होनेसे उसीमेंसे जड़-जीव कणोंका स्वयं उसमें ही विस्फुलिंगन्यायेन व्युच्चरण वाल्लभ वेदान्त सहज सम्भव मानता है. अतः पाश्चात्य चिन्तनमें जैसी-जैसी प्रक्रिया और जो-जो उसकी उपपत्तियां इस वादके समर्थनार्थ प्रस्तुत हुयी, उन सभीसे वाल्लभ वेदान्तकी सहमति मान लेनेकी धांधल तो अकाण्डताण्डव ही होगा.

(९)हेन्री बर्गसाँका अन्तःस्फुरणामूलक सृजनात्मक विकासवाद :

न तो तार्किकवादी और न आनुभविकवादी ही वस्तुके वास्तविक पूर्ण स्वरूपके साथ न्याय कर पाते हैं. क्योंकि एक वस्तुके अनुभूतिद्वारा प्रकट प्रकारसे तो दूसरा वस्तुके विश्लेषणद्वारा प्रकट प्रकारसे मोहित रहता है. जबकि ये दोनों ही वस्तुतः तो वस्तुकी आंशिक अभिव्यक्तियां होती हैं. अतः **हेन्री बर्गसाँ** (ई.१८५९-१९४२) जीवन-ऊर्जाके विकासक्रममें मनुष्यके सृजनात्मक इच्छावेगका अतीव महत्त्व स्वीकारते हैं. इस चिन्तकके अनुसार यद्यपि मनुष्यकी बुद्धि या तर्कवृत्ति ने मनुष्यके सहज इच्छावेगोंको रूंध कर उसे पराधीन बना रखा है; फिरभी, हमें अपने अपराधीन होनेका सहज बोध अन्तःस्फुरणाद्वारा तो होता ही है. अतः इच्छावेग और अन्तःस्फुरणा का तो प्रामाण्य इस चिन्तकको मान्य है परन्तु तर्क या बुद्धि का प्रामाण्य मान्य नहीं है. क्योंकि बुद्धि अपने प्रत्ययोंको जगत्पर हठात् थोप कर तदनुसारी जगत्का अयथार्थ चित्र हमारे मनमें उभारती रहती है. बर्गसाँके मतमें कालके अनौपाधिक रूपको और सृजनात्मक विकासमें मूलीभूत जीवन-ऊर्जाको अन्तःस्फुरणाश्रित बोधके आधारपर गम्य माना गया है.[१४१] अतः बर्गसाँके अनुसार न तो आनुभविक बोध और न तार्किक बोध ही जगत्के बारेमें पूर्ण और वास्तविक सूचना देनेमें समर्थ हैं. दोनों ही वस्तुके कुछ-कुछ विशेष

गुणधर्मोंकी ही सूचना दे पाते हैं. केवल अन्तःस्फुरणाद्वारा वस्तुके पूर्ण वास्तविक स्वरूपका बोध प्राप्त हो सकता है. उदाहरणतया किसी वस्तुकी गतिशीलताका बोध हमें प्राप्त करना हो तो परिगणित या अपरिगणित एकाधिक दैशिक और कालिक बिन्दुओंपर उस वस्तुकी स्थितिके रूपमें गतिका तार्किक विश्लेषण करनेपर गतिका स्थितिविपरीत विलक्षण स्वभाव गृहीत नहीं हो पाता है. साक्षाद् अनुभूतिका आश्रय लेनेपर उन बिन्दुओंपर स्थिति यदि गृहीत न हो पाती हो तो गत्यनुभूति भ्रमात्मिका ही प्रतीत होने लगेगी. अतः गतिशील वस्तुका पूर्ण वास्तविक बोध तो अन्तःस्फुरणाद्वारा गृहीत हो पाता है. निष्कर्षतया साक्षाद् अनुभूति और तार्किक विश्लेषण दोनों ही वस्तुके वास्तविक परन्तु अपूर्ण बोध प्रदान करते हैं. केवल अन्तःस्फुरणा ही पूर्ण वास्तविक बोध प्रदान करनेमें सक्षम होती है.[१४२]

बर्गसाँके मतकी आलोचनाके रूपमें *अवर् नोलेज् ऑफ् एक्स्टर्नल् वर्ल्ड* में रसेल्ने एक अतीव मननीय विधान किया है "**तर्क और मानसिक इच्छावेगों के बीच खड़ा किया गया विरोध भ्रामक है. आवेग, अन्तःस्फुरणा या अन्तर्दृष्टि ही हमें सर्वप्रथम किसी विश्वास तक पहुंचाती हैं, जिसे बादमें प्रकट होता तर्क सत्यापित या निरस्त करता है; परन्तु, वह सम्भाव्य सत्यापन भी अन्तिम विश्लेषणमें पुनः ऐसे ही किन्हीं विश्वासोंपर अवलम्बित हो जाता है जो मानसिक आवेगोंके वश ही हमने स्वीकारे होते हैं. तर्क तो सृजनात्मक सामर्थ्य होनेके बजाय एक संवादस्थापक व्यवस्थाकारी सामर्थ्य होता है**'."[१४३] हमारे अन्तःकरणके, फ्रॉयडीअन् मनोविज्ञानके अनुसार अचेतन स्तरके, भीतर भरा जो जीवन-ऊर्जाप्रयुक्त इच्छावेग होता है वह प्रमा या भ्रान्ति का निमित्त/हेतु बन नहीं सकता, ऐसा तो कहा नहीं जा सकता है. फिर भी प्रमात्मक ज्ञान और भ्रमात्मक ज्ञान दोनों ही अन्तःकरणके चेतनस्तरपर ही प्रकट होनेवाले बुद्धिके व्यापार होते हैं. अतः बर्गसाँके अनुसार यह कहा जा सकता है कि भ्रान्तिज्ञानका

बौद्धिक विश्लेषण करना पुनः अपूर्ण सूचनादायिनी बुद्धिकी विवेचनामें ही उलझना होगा. फलतः अन्तःस्फुरणाद्वारा जैसे ज्ञानकी भ्रान्तिरूपता स्वतोगृहीत होती हो उसे भ्रान्ति और जैसे ज्ञानकी प्रमारूपता स्वतोगृहीत हो पाती हो उसे प्रमा के रूपमें स्वीकारना चाहिये. अतः भारतीय दर्शनकी दृष्टिसे स्वतःप्रामाण्यवाद और स्वतो-अप्रामाण्यवाद के साथ इस चिन्तनको सम्भवतः प्रत्यासन्न माना जा सकता है. अतः भ्रान्तिका तार्किक विश्लेषण यहां अप्रासंगिक एवं अनावश्यक प्रतीत होता है.

(१०)**सेम्युएल् एलेक्ज़ेंडर् और अल्फ्रेड् नोर्थ व्हाइट्हेड् :**

वाल्लभ वेदान्तके अनुसार परम तत्त्व अपने ब्रह्म होनेके पहलुमें देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित, निराकार-सर्वव्यापी तथा सर्वोपादानरूप होता है. उसे ही, परन्तु, भगवान् होनेके पहलुमें साकार-सर्वातीत सर्वकर्ता सर्वनियन्ता तथा सर्वाधिदेव भी वाल्लभ वेदान्तमें माना गया है. इस धारणासे कुछ विपरीत ही सही फिरभी, दर्शन और विज्ञान को समन्वित करनेवाले उपर्युक्त दोनों चिन्तकोंने भी, परम तत्त्वके दो पहलु अपनी-अपनी चिन्तनरीतिके अनुसार स्वीकारे हैं : [१]समष्टिरूपेण सृष्टिका अनादिसिद्ध रूप God; और, [२]भावी या परिणत दैवी रूप Deity.

१.सेम्युएल् एलेक्ज़ेंडर् : कहा जाता है कि ब्रेड्लेके नव-हीगल्वादके विरोधमें **सेम्युएल् एलेक्ज़ेंडर्**(ई.१८५९-१९३८)ने बाह्यार्थास्तित्ववादको अपनाया. इस चिन्तकका मत *मास्टरपीसिज़् ऑफ वर्ल्ड फिलोसोफी*[१४४]में जैसे निरूपित हुवा है उसका सार यों है :

> दर्शनशास्त्रका प्रयोजन अस्तित्वके सामान्य और विशेष रूपोंको पहचान लेना है. चरम सत्य, इस चिन्तकके अनुसार, अवकाशात्मक देश और काल का समुच्चय होता है. द्रव्य अवकाशात्मक देशमें गतिक्रियाघटित होता है जो गतिक्रिया कालिक क्षणोंसे घटित होती है. भावात्मक

पदार्थ देश-कालके मौलिक गुणधर्मरूप होते हैं. भावात्मक पदार्थोंमें प्रमुख पदार्थ ये हैं : [१]अभिन्नता, [२]अस्तित्व, [३]सम्बन्ध और [४]क्रम.

द्रव्य, जीवन और चेतना भी उतने ही सत्य होते हैं जितने कि वस्तुके सामान्य रूप. ये देश-कालात्मक वस्तुमें आविर्भूत होनेवाले गुणधर्म होते हैं. अधिदेव, विकासके सिद्धान्तके अनुसार, वस्तुनिष्ठ क्रममें विश्वका सर्वोत्कृष्ट चेतनारूप होता है.

[१]एकत्व/बहुत्व या अभेद/पार्थक्य रूपी पदार्थ न तो मानवीय बुद्धिके वस्तुविषयक बोधको प्राप्त करनेके बौद्धिक उपकरण हैं और न सत्के सभी प्रकारोंके परिच्छेदोंके निर्धारक गुणधर्म. ये हैं कालिक क्षणबिन्दुओंके प्राथमिक लक्षणरूप गुण. क्योंकि वस्तुके एकत्व, अभेद या तथात्व का बोध जैसे कालवर्तिताके वश होता है वैसे ही कालक्रमानुपाती उत्तरोत्तरवर्तिताके कारण बहुत्व या पार्थक्य का बोध भी होता है. इसी तरह अवकाशात्मक देशमें सातत्यके कारण एकत्वका बोध जो होता है तो अंशघटित होनेके कारण बहुत्व या पार्थक्य भी अवगत होते हैं.

[२]इसी तरह भाव या सत्ता, एलेक्ज़ेंडर्के अनुसार, देश-कालवर्ती एकत्वका ही अपरपर्याय होता है.

[३]सम्बन्ध रूपी सभी पदार्थ देश-कालवर्ती सातत्यरूप होते हैं.

[४]क्रम भी अपने-आपमें एक स्वतन्त्र पदार्थ होता है.

इसी तरह देश-कालका वह अंश जो गतिक्रियाका आश्रय बनता हो उसे द्रव्य माना गया है. रिक्त अवकाश द्रव्यान्तःपाती होता है, ग्रहोंके परिभ्रमणपथके जैसा आणविक कोशात्मक स्वरूप. कारणता पदार्थ दो द्रव्योंके बीच रहनेवाला सम्बन्ध होता है. साधारणतया कारणताके दो रूप माने

जाते हैं : वस्तुकारणता और घटनाकारणता. एलेक्ज़ेडर्, किन्तु, ऐसा प्रभेद स्वीकारने उद्यत नहीं है. वस्तु स्वयं अनेकविध गतिक्रियाओंका समाहार होती है; अतः, द्रव्यघटक एक या एकाधिक गतिक्रियाओंके अनुवर्तनके साथ गतिक्रियान्तरके प्रकट होनेपर कार्यकारणभाव अवगत होता है. आनुभविक विषयोंका अनुभवसे स्वतन्त्र अस्तित्व होता है.

गुण दो तरहके होते हैं : [१]द्रव्यमें परिमाणात्मक अन्तर प्रकट करनेवाले और [२]गुणात्मक अन्तर प्रकट करनेवाले. उदाहरणतया आणविक कोशका गुरुत्व कोशघटक परमाणुओंकी संख्याके कारण परिमाणात्मक गुण होता है परन्तु H_2O रूपी तीन परमाणुओंके कारण एक जलाणुकोशमें गुणात्मक अन्तर आविर्भूत होता है. क्योंकि हायड्रोज़न् या ऑक्सीज़न् दोनोंमेंसे किसीमें भी जल होनेका गुण/स्वभाव होता नहीं है.

अतः देश-कालके समुच्चयको तोड़ा नहीं जा सकता है और सभी कुछ इस तरह देश-कालमें आविर्भूत होता है. देश-कालकी गतिशीलताके कारण जो घनीभूत भौतिक द्रव्य आविर्भूत होते हैं उन द्रव्योंके परस्पर गतिशील होनेपर रासायनिक द्रव्यके गुणधर्म आविर्भूत हो जाते हैं. रासायनिक द्रव्योंकी गतिशीलताके कारण सजीव द्रव्योंके गुणधर्म आविर्भूत होते हैं और सजीव द्रव्योंकी गतिशीलताके कारण सचेतन द्रव्य आविर्भूत हो जाते हैं. भविष्यमें इसी सचेतन द्रव्योंकी विकासोन्मुखी गतिशीलताके कारण दैवी द्रव्य आविर्भूत होगा. इस विकासक्रममें आविर्भावसे पूर्व आविर्भूत गुणधर्म या द्रव्य का अभाव होनेपर भी आविर्भावोत्तर उसके भाववशात् उत्तरोत्तर आविर्भूतोंको मिथ्या या कल्पित नहीं माना जा सकता.

एलेक्जेंडर्की इस तत्त्वमीमांसकीय विवेचनाके बाद अब ज्ञानमीमांसकीय विवेचना भी देख लेनी उपकारक होगी :

> एलेक्जेंडर्का मानना है कि नाड़ीतन्त्रोंकी गतिशीलताका ही केवल अनुभव होता हो ऐसा नहीं अपितु इनकी गतिशीलताके कारण आविर्भूत होता चेतनात्मक गुणधर्म एक नूतन आरम्भ होता है. नाड़ीतन्त्रोंकी गतिविधिके बारेमें मनोनिष्ठ भान उपभोगरूप होता है जबकि उसके कारण होता बाह्य वस्तुविषयक भान विमर्शरूप होता है. इन उभयविध भानोंका व्यष्टिगुण होनेके साथ-साथ किन्हीं समष्टिके सर्वसामान्य निकषोंके आधारपर भी खरा उतरना आवश्यक होता है. अतएव जब हमारा अनुभव दूसरोंके अनुभवके साथ तालमेल नहीं बिठा पाता तब हमें अपने अनुभवकी व्यष्टिरूपता समझमें आती है. और यों विषयिरूप अनुभव और विषयरूप अनुभूत के बीच रहे प्रभेदके बारेमें हम सभान बनते हैं.

इस अवधारणाका सूक्ष्मेक्षण करनेपर यह प्रकट हो जाता है कि तत्त्वमीमांसामें यह मत बाह्यार्थास्तित्ववादी बौद्धोंके क्षणिकवाद एवं प्रतीत्यसमुत्पादवाद और नैयायिकोंके असत्कार्यवाद एवं आरम्भवाद इन दोनोंके बीचमें से मध्यम मार्गका अवलम्बन करनेवाला मत है. क्योंकि केवल क्रियासंघातरूप या क्रियासमवायी द्रव्यको माननेके बजाय क्रियासंघातसे द्रव्यके नूतन आरम्भको स्वीकारता है. अर्थात् कारणीभूत क्रियाओंके संघातसे पूर्व उन कारणीभूत क्रियाओंमें असत् ऐसे द्रव्यको उत्पत्तिके बाद सत्तया स्वीकारता है. मूलरूपेण देश-काल और द्रव्य के बीच परस्पर हेतु-कार्यभाव मान कर देश-कालारब्ध या देश-कालपरिणामरूप द्रव्यास्तित्वका यह स्वीकार है. इसी तरह देश-कालसे जुड़ी विविध अपेक्षाओंके वश कारणसे कार्यका तथा दो कार्यों के बीच परस्पर

भेद भी स्वीकारता है और अभेद भी. यह भेदाभेदका समुच्चय है अथवा अभेदमें भेदरूप तादात्म्य, यह स्पष्ट नहीं हो पाता. अतः तत्त्वमीमांसाकी दृष्टिसे भारतीय दर्शनके किसी भी प्रकारके साथ यह मत प्रत्यासन्न नहीं लगता.

फिरभी ज्ञानमीमांसामें रामानुजीय अख्याति और सत्ख्याति की धारणाओंके साथ प्रत्यासन्नतर लगता है. क्योंकि आंशिक अवभासकी आंशिक सत्यता मान्य होनेपर भी अंशिरूप बोधकी दृष्टिसे उसे भ्रान्तिरूप भी माना गया है. इस सन्दर्भमें यह अवश्य ही पुनः उल्लेखनीय हो जाता है कि रामानुज वेदान्तमें देवको जगत्कर्ता माना गया है परन्तु इस मतमें गॉड् God को सृजनशील माननेपर भी उसके इतरव्यावृत्त देवरूपको जागतिक विकासका अन्तिम पर्यवसानरूप श्रेष्ठतम स्तर या कार्य ही माना गया है. वाल्लभ वेदान्तका तो अभिप्राय इस बारेमें आधिभौतिक आध्यात्मिक एवं आधिदैविक तीनों ही रूप परब्रह्ममें एकहेलया चक्रन्यायेन प्रकट और प्रलीन होते रहते हैं. अतः उत्तरोत्तर विकासकी अवधारणा उसे सर्वथा अमान्य ही होगी. यह हम पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं. अख्याति और सत्ख्याति की अवधारणा वाल्लभ वेदान्तमें अंशतो मान्य है ही. अस्तु.

२.अल्फ्रेड् नोर्थ् व्हाइट्हेड् (ई.१८६१-१९४७) : यह चिन्तक बर्ट्रेंड् रसेल्के अध्यापक भी रह चुके थे एवं *प्रिंसिपिया मेथेमेटिका* ग्रन्थके लेखनमें वरिष्ठ सहयोगी भी. खुद रसेल भी स्वीकारते हैं कि व्हाइट्हेड्की तत्त्वमीमांसकीय उत्प्रेक्षा स्वयं रसेल्को भी भलीभांति समझनेमें कठिनाई प्रतीत होती थी.[१४५]

इस चिन्तकने समग्र ब्रह्माण्डको यान्त्रिक भौतिकताके रूपमें देखनेके बजाय एक सजीव व्यवस्थाके रूपमें निहारना चाहा. मूलमें जड़ और चेतन के बीच किसी तरहके तादात्म्यको विज्ञान और दर्शन के समन्वित

आधारपर प्रस्तुत करनेकी दिशामें यह एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक दार्शनिक उद्यम था. अतः व्हाइट्हेड्के *'प्रॉसेस् एंड् रियालिटी'* नामक ग्रन्थके *मास्टर्पीसीस् ऑफ़् वर्ल्ड् फिलोसोफी* में संकलित सारके आधारपर इसे निहार लेना उपकारक होगा :

> यह ब्रह्माण्ड एक ऐसा ब्रह्माण्ड है कि जिसके प्रत्येक भाग सजीव कोशोंकी तरह परस्पर अन्योन्यनिर्भर प्रक्रियावश सतत सृज्यमान होनेका स्वभाव प्रकट करते हैं. ब्रह्माण्डका यह ऐसा गुण है जो साक्षाद् अनुभूतिमें प्रकट होता ही है और अतएव सजीवतावादी दर्शनशास्त्रके आधारपर ही इसकी समुचित व्याख्या हो सकती है. सजीव ब्रह्माण्डको स्वीकारनेवाला यह दर्शनशास्त्र ठोस विशेषोंके आधारपर अमूर्त सामान्योंके अनुगम द्वारा उसकी गतिशील प्रक्रियाको जानना चाहता है, क्योंकि इस ब्रह्माण्डकी मुख्य वास्तविकता तो वही है. एतदर्थ दर्शनशास्त्रका तार्किक आधारदृष्ट्या सुसंगत तथा सुसंवादी होना जितना आवश्यक होता है उतना ही आनुभविक आधारदृष्ट्या साक्षाद् अनुभूतिद्वारा उपबृंहित होना भी.
>
> एतदर्थ इस चिन्तनमें [१]चरमपदार्थ, [२]अस्तित्वपदार्थ [३]व्याख्यापदार्थ और [४]पदार्थात्मक नियतकर्तव्य, यों चार पदार्थ प्रमुख माने गये हैं. इनमें सरीसृज्यमानता [१]चरमपदार्थ मानी गयी है, ऐसी कि जिसमें परमेश्वर भी अपवादरूप नहीं होता. नूतनता और विकासोन्मुख-अग्रसरता भी इसी निरन्तर सृज्यमानताके वश प्रकट होती मानी गयी हैं.
>
> द्वितीय कोटितया [२]अस्तित्वपदार्थ आठ तरहके प्रस्तावित किये गये हैं : वस्तुभूत तत्त्व (actual entiites), बोध(prehensions), सम्पर्क(nexus), विषयिगत आरूप(subjective forms), सनातन विषय(eternalobjects), उद्देश्य-विधेयभावात्मक वचन(propositions), बहुत्व(multiplicities), और विरुद्धता(contrast). प्राचीन दर्शनोंमें द्रव्यतया अभिहित पदार्थको यहां 'वस्तुभूत तत्त्व' कहा गया है, ये ब्रह्माण्डके घटक चरम तथ्य होते हैं. 'बोध'=सम्बद्धताओंके साथ जुड़े ठोस तथ्य. 'सम्पर्क'=जिसके कारण वस्तुभूत तत्त्वोंके साहचर्यका बोध होता हो. 'विषयिगत आरूप'=निजी अनुभवके विषयोंके निर्धारक या लक्षणरूप जो गुण हों. एतन्मूलक 'उद्देश्यविधेयभावात्मक वचन'=जिसके कारण प्रमा और भ्रम के प्रभेद सार्थक बनते हों. 'बहुत्व'=विविध तत्त्वोंकी विविक्तताको जो इंगित करता हो. 'विरुद्धता'= संश्लेषणका ऐसा प्रकार सूचित करती है कि जो बोधमें या विशेष तथ्योंकी सम्बद्धतामें प्रकट हो पाते हैं. 'व्याख्यापदार्थ' और 'पदार्थात्मक नियतकर्तव्य' नामक कोटिओंके क्रमशः सत्ताईस और नौ प्रभेद दिखलाये हैं. इन्हें विस्तारभीतिवश हम नहीं दे पा रहे हैं.
>
> परमेश्वर (God) तत्त्वका अन्य वास्तविक तत्त्वोंसे अन्तर यही होता है कि वह कहीं-कभी घटित होनेवाला वास्तविक तथ्य नहीं होता. जबकि अन्य सारे वास्तविक तत्त्व कहीं-कभी घटित होनेवाले तत्त्व होते हैं. प्रत्येक वास्तविक घटित तत्त्वोंमें द्वैध्रुविक संरचना प्रकट होती है : एक भौतिक ध्रुव और दूसरा मानसिक ध्रुव. परमेश्वरकी, किन्तु, द्वैध्रुविकता अन्य ही प्रकारकी होती है. जैसेकि एक उसका मौलिक स्वभाव होता है और दूसरा परिणत स्वभाव. मौलिक स्वभावदृष्ट्या परमेश्वर उन सभी शाश्वत तत्त्वोंके विमर्शमें निरत रहता है जो वस्तुभूततया प्राकट्योन्मुख हो कर मानसिक ध्रुवके साथ संवादी बनना चाहते हों. परमेश्वरका परिणत स्वभाव उक्तप्रकारसे प्रकट जगत्की प्रतिक्रियाके परिणाम या प्रभाव के रूपमें प्रकट होता है; और, यह भौतिक ध्रुवके साथ संवादी बन जाता है.

व्हाइट्हेड्के अनुसार स्नेह धार्मिक अनुभूतिका निकष होता है. अरिस्तोतल्के द्वारा उत्प्रेक्षित कूटस्थ सर्वसंचालक देव, जिसे जगत्से कुछ भी लेना-देना न हो; और, परवर्ती मध्यकालीन देवशास्त्रीय देव, जो रोमके सीज़रके जैसे सभी गुणोंको प्रकट करनेवाला बना दिया गया था, इन दोनोंकी तुलनामें स्वयं गेलिलीअन् ईसा मसीहद्वारा उपदिष्ट भूतलपर अवतीर्ण होनेवाले प्रेमप्रचुर देवका सिद्धान्त धर्मानुभूतिमें स्नेहतत्त्वकी प्रधानताके बोधार्थ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है. अतएव गॉड्के मौलिक और परिणत स्वभावोंका प्रभेद समझ लेना आवश्यक है. गॉड् एक असीम अपरिच्छिन्न सम्भावनारूप होता है. वह सभी तरहकी प्रात्ययिक संवेदनाओंको एकनीड़ बनानेवाला अधिष्ठान होता है. अतएव मूलमें वह कहीं घटित होनेवाली वास्तविकता नहीं होता. अपने इस मौलिक स्वभावमें वह वस्तुघटना नहीं होता परन्तु प्रात्ययिक संवेदनाओंका एकीभूत अधिष्ठान और व्यापार होनेके रूपमें वह स्वतन्त्र सृजनशील कर्मरूप होता है. इस मौलिक स्वभावके साथ-साथ उसका दूसरा जो परिणत स्वभाव होता है, तदनुसार वह आत्मसृष्ट जगत्की प्रतिक्रिया या प्रभाव अपने रूपमें प्रकट करने लगता है. अतः वह वस्तुभूततया घटित जगत्में वस्तुभूततया भौतिक वस्तुका स्वभाव प्रकट करने लग जाता है. मौलिक स्वभावदृष्ट्या वह स्वतन्त्र, परिपूर्ण, सनातन, वस्तुभावरहित और अचेतन होता है. परिणत स्वभावदृष्ट्या निर्धारित हो पाये ऐसा, अपरिपूर्ण, सदा विद्यमानतया प्रतीत होनेवाला, वस्तुतया घटित और चेतनात्मक बन जाता है. इस तरह परिणत स्वभावदृष्ट्या वह दिव्य स्नेह और दिव्य बोध प्रकट करनेवाला जगत्का उद्धारक दयालु बन पाता है.[१४६]

व्हाइट्हेड्के अनुसार बोधकी प्रक्रियाद्वारा वस्तुभूत घटनासमुदाय समाजों या सम्पर्कों के रूपमें घड़ा जाता है. बोधप्रक्रियाके अन्तर्गत ज्ञाता ज्ञेयवस्तु और ज्ञानप्रकार या विषयिगत आरूप का त्रैविध्य होता है. सृजनात्मक अन्योन्यनिर्भर प्रक्रियामें प्रत्येक घटना भूत वर्तमान और भविष्य कालके गुणोंसे नियत या उपहित होती है. वास्तविकतामें यह प्रक्रिया एक सृज्यमान अग्रसरता होती है, ऐसी कि जिसमें संवेदनायें एकीकृत हो जाती हैं, वास्तविक घटना सन्तोषके चरमरूपकी ओर विकसित हो पाती है, इस तरह कि गॉड्को प्रभावित करके जागतिक कार्यों और घटनाओं को भी प्रभावित कर पाती हैं. इन विचारसूत्रोंके अवलोकन करनेसे यह स्पष्ट होता है कि व्हाइट्हेड्के अनुसार प्रत्येक विशेष वस्तुका आत्मघटक तादात्म्य क्षणिक प्रक्रियाके दृष्टिकोणसे देखनेपर परिवर्तनशील होता है परन्तु अपने समष्टिरूप ब्रह्माण्डकी आंशिक अभिव्यक्तिके रूपमें वह शाश्वत भी होता है. इसे जीवकोशके उदाहरणके आधारपर भलीभांति समझा जा सकता है. एक सजीव संघातान्तर्वती उत्पत्ति-विनाशशील जीवकोश अपने स्वरूपदृष्ट्या/स्वभावदृष्ट्या स्थिर एवं शाश्वत होनेपर भी स्वभावाश्रयीभूत द्रव्यदृष्ट्या अस्थिर एवं अशाश्वत भी होता है. व्हाइट्हेड्के सजीवतावादी चिन्तनके अनुसार ज्ञाता एक आरब्ध कार्यरूप पदार्थ है नकि आधारभूत कारणरूप पदार्थ. व्हाइट्हेड्के मतमें संवेदनाओंके जटिल संघात ही प्राथमिक पदार्थ होते हैं. अतः यद्यपि प्रत्येक वस्तुके जो दो ध्रुव स्वीकारे गये हैं वह वाल्लभ वेदान्तको अभिमत सृष्टिकी नामरूपात्मकताके साथ प्रत्यासन्न विवेचना है.[१४७] लगती होनेपर भी स्वयं ज्ञाताको जन्यद्रव्य मानना बौद्ध आलयविज्ञानकी अवधारणाके साथ अधिक प्रत्यासन्न बन जाती है. परमेश्वरके मौलिक और परिणत स्वभावोंकी द्वयीके बारेमें महाप्रभुका यह वचन बरबस स्मृतिपथपर आरूढ़ हो जाता है :

‘‘‘इन्द्रियार्थमायाबलम्’ इति भगवतः इन्द्रियार्थरूपायाः मायायाः बलं यत्र. अन्तरोत्पन्नाः पदार्थाः मायिकाएव.

इन्द्रियाणामेव अर्थे निष्पादिताः. भगवतइव इन्द्रियाणि यदा लोकहितार्थं प्रवृत्तानि अहङ्कारेण तदा भगवदाज्ञया भगवन्मायया स्वरूपभूताः पदार्थाः निष्पादिताः... तस्याः बलस्य इदमेव निदर्शनं यद् 'इदं' प्रतीयते, तदा अस्ति बलमिति भगवदीयत्वाद् भगवत्कृपयैव निवर्तते इति ज्ञापितम्. दर्शने हेतुः 'जनः' इति, यदा भगवतः 'ईशोऽहम्' इति इच्छा तदा ईशितव्यस्य अपेक्षणाद् जननम् इति अर्थः'.'[१४८]

भ्रान्तिके बारेमें इस दृष्टिकोणकी विवेचना करनी हो तो पुनश्च व्हाइट्हेड्के मतमें ज्ञाता ज्ञानसंघातोद्भूत द्रव्य होनेपर भी पारमार्थिक माना गया है. इसी तरह प्रत्येक ज्ञान भी आंशिक रूपमें भ्रान्तिरूप लगता होनेपर भी स्वयं अंशीके दृष्टिकोणसे निहारनेपर अन्ततः अंशावभासके ही अर्थमें भ्रान्तितया सिद्ध होता है नकि सर्वथा. अतः अख्याति या सत्ख्याति ही सुसंगत हो पायेंगी अन्य कोई प्रकार नहीं, ऐसी सम्भावना प्रबल लगती है.

(११)**बर्ट्रेंड् रसेल्का विश्लेषणात्मक अवशेषणवाद :**

भारतीयदर्शनेतिहासमें बौद्ध दर्शन एवं वाल्लभ दर्शन दो ध्रुवोंकी तरह सर्वथा एकदूसरेके विपरीत प्रस्तुत हुवे हैं. वहां सब कुछ दुःखरूप या दुःखमूलक है तो यहां सब कुछ सच्चिदानन्दात्मक भगवल्लीलात्मक. वहां सब कुछ क्षणिक है तो यहां सब कुछ शाश्वत. वहां सब कुछ सामान्यलक्षणसे रहित स्वलक्षण होता है तो यहां सब कुछ ब्रह्मतादात्म्यलक्षणात्मक. वहां सब कुछ शून्य है तो यहां सब कुछ सदेकरूप. जैसे वहां प्रतीत्यसमुत्पादवादमूलक नामरूपसंघातवाद है तो यहां तद्विपरीत अविकृतपरिणामवादमूलक सदात्मक नामरूपकर्माविर्भाववाद. जैसे वहां असत्कारणवाद और असत्कार्यवाद मान्य हैं तो यहां सत्कारणवाद और सत्कार्यवाद मान्य रखे गये हैं. जैसे वहां अद्रव्यवाद एवं नैरात्म्यवाद हैं तो यहां सर्वद्रव्योंका सर्वात्मकतावाद या ब्रह्मात्मतादात्म्यवाद. जैसे

वहां अब्राह्मिक देवबहुत्ववाद है तो यहां ब्राह्मिक देवबहुत्ववाद. अतएव भ्रान्तिके बारेमें भी बौद्ध अवधारणा वहां आत्मख्यातिरूपा है तो यहां वाल्लभ अवधारणा अन्यख्यातिरूपा. यों स्पष्टतया दो विपरीत ध्रुव होनेका रूप बौद्ध और वाल्लभ चिन्तनोंमें प्रकट होता है. अतएव प्रस्तुत लेखकको दर्शनशास्त्रसे एम.ए. करनेकी इच्छा जागनेपर, जिसकी परीक्षामें मैं परिस्थितिवश बैठ नहीं पाया, दो प्रश्नपत्र जब विशेष दार्शनिकोंके चुनने थे सो एक तो वाल्लभ वेदान्तको ही चुना. दूसरा, किन्तु, बौद्ध दर्शनको विश्वविद्यालयके पाठ्यक्रमानुसार पढ़नेके बजाय मूलग्रन्थोंके आधारपर पढ़ना अधिक उचित मान कर मैंने बर्ट्रेंड् रसेल्का ही चुनाव किया था.

रसेल्का स्पष्टभाषी व्यक्तित्व, गहन चिन्तन एवं बहुमुखी लेखन तीनों ही मेरेलिये अतीव मोहक रहे हैं. अतिशयोक्ति न हो जाती हो तो मैं यह कहना पसन्द करूंगा कि **बर्ट्रेंड् रसेल्**(ई.१८७२-१९७०) स्वयं भगवान् बुद्धके आधुनिक अवतारूप ही थे, सर्वथा नास्तिक एवं अधार्मिक परन्तु निश्चित ही एक महामानव सन्त!

इसी अवधिमें बर्ट्रेंड् रसेल्का देहान्त भी हुवा था सो रसेल्के दर्शनकी क्लासमें ही यह समाचार मिलनेपर मेरे नेत्र तो गीले हो गये परन्तु मेरे कई सहपाठी एक-दूसरेको अभिनन्दित करने लगे कि चलो अब कोई नयी थियरी तो रसेल्की प्रकट नहीं हो पायेगी! क्योंकि रसेल अपना मत निरन्तर बदलते ही रहे सो पढ़नेमें वह जितना आकर्षक लगता था उतना ही परीक्षार्थ रटनेमें कष्टदायक!! अतः स्पष्ट है कि रसेल्के मतकी विवेचना एक लघुलेखनमें अशक्य न भी हो तो भी दुःशक तो अवश्य ही है. वैसे 'बर्ट्रेंड् रसेल्का दर्शन'(The Philosophy of Bertrand Russell) ग्रन्थमें मोरिस् वैत्जने अपने पाण्डित्यपूर्ण निबन्धमें रसेल्के चिन्तनमें एकत्वाधायक तीन सूत्र प्रतिपादित किये हैं और इनसे स्वयं रसेल्ने अपनी सहमति भी यहीं

जतायी है. वे तीन सूत्र यों हैं : [१]विश्लेषणप्रक्रिया, [२]तत्त्वमीमांसाके साथ, अमूर्तब्रह्माण्डविज्ञानके साथ, गणितशास्त्रात्मक तर्कशास्त्रके साथ और विज्ञान तथा सामान्यजीवन के साथ जुड़ी प्रतीकात्मिका धारणाओंकी मीमांसा में विश्लेषणात्मक पद्धतिका विनियोग; तथा, [३]वास्तविक परिभाषाओंके द्वारा अथवा उपयोगमें आती प्रतीकात्मिका परिभाषाओंके द्वारा विश्लेषण करना.[६४९]

इस बारेमें इतनी सी बात उल्लेखनीय लगती है कि पहले रसेल् एकान्तिककाल्पनिकवादी अर्थात् केवल मनकी सत्तामें मानते थे, और बादमें जी.ई.मूरके कारण तथा गणितके सत्यापनकी अदम्य आकांक्षाके कारण बोध और बोधपर निर्भर न होनेवाले बोधजनक बाह्यार्थों तथा उनके बीच रहे सम्बन्धों के परस्पर द्वैतमें आस्थाशील बन गये. फिर इसमें भी आस्था खो कर तटस्थ अद्वैतवाद, अर्थात् मूल तत्त्व न जड़ होता है और न चेतन ऐसे मत, को स्वीकारने लगे. अन्तमें साठके दशकमें अपने-आपको तार्किकाणुबहुत्ववादी मानने लग गये थे. अतः उल्लिखित इन तीन सूत्रोंके आधारपर रसेलके चिन्तनमें एकरूपता खोजनी कितना उनके चिन्तनके बारेमें परिचयात्मक साक्षात्कार (knowledge by acquaintance) है और कितनी विवरणात्मक बोधाश्रित तार्किक संरचना (logical construction based on the knowledge by description) इस बारेमें, स्वयं रसेलकी ज्ञानमीमांसकीय धारणाओंके आधारपर कुछ कहना हो तो, यह विचारणीय विषय लगता है!

एक दार्शनिक होनेके रूपमें जो समस्या रसेलके चिन्तनार्थ उभरती हैं उनका निरूपण *अवर् नोलेज् ऑफ एक्स्टर्नल् वर्ल्ड* ग्रन्थमें यों करते हैं :

> **"न तो दर्शनशास्त्रकी जानकारी और न उसके प्रति आदरभाव रखनेवाले भौतिकीविद् स्वयं उत्प्रेक्षित कण बिन्दु**

और क्षणों में सन्तुष्ट रहते हैं. अपने दैन्यविडम्बनके साथ यह और स्वीकार लेते हैं कि वे पदार्थोंके बारेमें किसी तरहकी पराभौतिकी प्रामाणिकताका दावा नहीं करना चाहते. काल्पनिकवादी अवधारणाओंके आग्रही पराभौतिकीविद् केवल चेतनमनके ही अस्तित्वमें और पार्मेनाइडिअन् धारणा कि सद् अपरिवर्तशील ही होता है, इसमें विश्वास करते हैं... इन्द्रियोंद्वारा उपस्थापित असंस्कृत अवभासोंके अनघड़ विषयोंके अव्यवस्थित स्वभावपर पर्याप्त प्रकाश डालनेवाले, जो मनोवैज्ञानिक होते हैं वे गणित तथा आधुनिक तर्कशास्त्र की तो जानकारी रखते नहीं. अतः वे द्रव्य, अवकाशदेश और काल को बौद्धिक संघात बताते रहते हैं, यह बताये बिना कि बुद्धि ऐसे संघातोंको घड़ती कैसे है अथवा भौतिकी जो द्रव्यादिकी व्यावहारिक वैधता दिखलाती है उसका आधार क्या है. अतः आशा रखनी चाहिये कि दार्शनिक यह मान लेंगे कि इस विषयमें थोड़ी-बहोत तर्कशास्त्र गणितशास्त्र और भौतिकशास्त्र की जानकारी रखे बिना वे किसी तरहकी ठोस सफलता प्राप्त नहीं कर पायेंगे(पृ.१००). यह समस्या कठिन है और मुझे भी इसके समाधानके विस्तृत जानकारी नहीं फिरभी समस्या क्या है और किस उपाय द्वारा उसका समाधान खोजा सकता है, इतना ही मैं कर पानेको समर्थ हूं.(पृ.८१)

यह हमेंशा माना जाता रहा कि कोई अविनाशी वस्तु है ही जो अवकाशमें गतिशील रहनेको सक्षम होती है. अविनाशी वस्तु अणुपरिमाण होनी चाहिये परन्तु बिन्दुमात्र अवकाशमें सदा अवस्थित रहती हो ऐसा नहीं. रदरफोर्ड बोह्रके आणविक संरचनाके सिद्धान्तमें यही दृष्टिकोणका प्राबल्य था. सन् १९२५ के बाद द ब्रोग्ली, हैजन्बर्ग् और श्रोडिंगर् के प्रभाववश भौतिकीविदोंने अणुका तरंग-गतिके भीतर अथवा उत्किरणोंमें प्रत्यवसान कर दिया, जहां अणुका

होना माना जाता रहा. इस परिवर्तनके कारण भौतिकी मनोवैज्ञानिकके निकट आ गयी और तथावधारित द्रव्यात्मक इकाई केवल तार्किक संरचना रह गयी.(पृ.८३) अतः अब वस्तुको *भौतिकीके नियमोंको अनुसरनेवाले घटनाक्रमके पहेलु* के रूपमें परिभाषित किया जा सकता है. ऐसे घटनाक्रमका अस्तित्व एक आनुभविक तथ्य है जो भौतिकविज्ञानद्वारा सत्यापित होता है. भौतिकीका द्रव्य मनोविज्ञानसे जुड़ी ऐन्द्रियकोपलब्धिके घटनाक्रमसे पृथक् ही होना चाहिये क्योंकि भौतिकी द्रव्यको प्रतिभासमात्रशरीर नहीं मानती, अतः उसका द्रव्य मनोविज्ञानपर निर्भर नहीं होना चाहिये, इस आपत्तिके बारेमें ज्ञातव्य यही है कि सत्य और सत्यापित प्रमेय दोनों अलग-अलग बाते हैं. उद्देश्यविधेयभावात्मक विधानका केवल सत्य होना पर्याप्त नहीं होता प्रत्युत सत्यतया अवगत होना भी आवश्यक होता है.[१५०]

साधारण लोकधारणाके अनुसार अवकाशदेश और काल के भीतर द्रव्यात्मक वस्तु रहती है. आधुनिक भौतिक विज्ञान, परन्तु, सापेक्षवादका अवलम्बन करके, देश और काल के बजाय, *देश-काल* के समुच्चयसापेक्ष निरन्तर परिभ्रमणशील भौतिक परमाणुओंकी घटनाओंके रूपमें ही वस्तुओंको निरूपित करता है. अतः कालस्थायी एवं अवकाशसंचारी स्थिर वस्तुवाद के स्थानपर तथाकथित वस्तुओंको देश-कालसापेक्ष घटनाओंके रूपमें निहारनेपर *क* और *ख* रूपी दो घटनायें किसी अपेक्षासे समकालिक तो अन्य अपेक्षासे असमकालिक भी हो सकती हैं. अथवा *क* घटना पूर्वकालिक और *ख* उत्तरकालिक जैसे हो सकती हैं; वैसे ही, *क* घटना उत्तरकालिक और *ख* घटना पूर्वकालिक भी हो सकती हैं. इन अपेक्षाभेदोंका कोई भौतिक याथार्थ्य नहीं होता है. अतः रसेल्का कहना है कि जिन्हें हम भौतिक परमाणुओंके कण समझते हैं, उन्हें

भौतिक घटनाओंके क्रमभेदतया स्वीकारनेको अब उद्यत होना पड़ेगा. ये घटनायें कुछ भौतिक गुणधर्म तो प्रकट करती हैं परन्तु इनके आधारपर भौतिक द्रव्य जैसी कोई वास्तविकता सिद्ध नहीं हो पाती. क्योंकि उन-उन घटनाओंके संघातोंके बारेमें हमने अपनी सोचनेकी सुविधाके हेतु जो द्रव्यबुद्धि घड़ ली है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं. इसी तरह जिसे हम 'चेतनमन' कहते हैं वह भी विभिन्न संवेदनाओंके संघातके अलावा अन्य कुछ भी सिद्ध नहीं होता. अतः भौतिकविज्ञानका विषयीभूत स्थिर द्रव्य हमारी मानसिक संवेदनाओंके संघातके अलावा जैसे अन्य कुछ नहीं ऐसे ही मनोविज्ञानका विषयीभूत चेतनमन भी भौतिक तथा जैविक क्रिया-प्रतिक्रियाओंके संघातके अलावा अन्य कुछ भी सिद्ध नहीं होता. इस निष्कर्षपर पहुंचनेपर रसेल्को पहले तटस्थ अद्वैतवाद, अर्थात् जगत्का मूल न तो कोई भौतिक जड़द्रव्य हो सकता है और न चेतनात्मक मनोद्रव्य ही हो सकता है ऐसा मत, मान्य था.[१५१] यह भौतिक एवं मानसिक संघातोंके विश्लेषणद्वारा विश्लेषणासहिष्णु चरम अवशिष्टोंकी स्वीकृतिका सिद्धान्त (analytic reductionism) है.

अल्बर्ट् आइन्स्टीन्के द्वारा अपनी आलोचनाके प्रत्युत्तरतया स्वयं रसेल् जो कुछ स्वीकारते हैं उसका भारतीय दार्शनिक शब्दावलीमें सारानुवाद यों किया जा सकता है "यह तर्कलाघव(Occam's razor)का उपयोग है. क्योंकि समवायी द्रव्यको स्वीकारनेके बावजूद गुणधर्मोंका अस्वीकार शक्य नहीं परन्तु गुणधर्मोंका समुदाय स्वीकार लेनेपर समवायी द्रव्यका अनंगीकार शक्य हो जाता है'.'[१५२]

भारतीय चिन्तनप्रणालीमें "**सहोपलम्भनियमाद् अभेदो नील-तद्धियोः**" सूत्रके पुरस्कर्ता बौद्ध दर्शनमें, विशेषतः 'मिलिन्द पण्हो' आदि ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती प्रतिपादनप्रक्रिया और सिद्धान्तों के साथ यह प्रतिपादनप्रक्रिया और सिद्धान्त दोनों ही प्रत्यासन्नतर लगते हैं.

विश्लेषणात्मक अवशेषणवादका उपयोग रसेल्ने न केवल तत्त्वमीमांसामें अपितु ज्ञानमीमांसामें भी भरसक किया है. ज्ञानमीमांसाके अन्तर्गत, भारतीय रीतिके अनुसार, ज्ञानको अपरोक्ष और परोक्ष यों दो प्रभेदोंमें निहारें तो सविकल्प अपरोक्ष ज्ञान और परोक्ष अनुमिति या शाब्दबोध आदि प्रक्रियाकी विवेचनामें रसेल्ने निर्विकल्पस्थानीय साक्षात्परिचयात्मक बोध तथा सविकल्पस्थानीय मानसिक संरचनात्मक बोध के बारेमें प्रायः बौद्ध दर्शनको अनुकूल होनेवाली अवधारणायें ही प्रस्तावित की. वैसे साक्षात्परिचयात्मक बोध सर्वथा निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है, ऐसे तो नहीं कहा जा सकता, फिरभी *ज्ञानाकरणक ज्ञान* होनेके अर्थमें निर्विकल्पकज्ञानकी जैसी एकान्तिक प्राथमिकता तो साक्षात्परिचयात्मक ज्ञानकी भी विवक्षित है ही. ज्ञानके इस प्रकारके अलावा अन्य भी उद्देश्य-विधेयभावघटित वचनोंके प्रकार, उनसे जुड़ी सार्थकता/निरर्थकता या प्रामाण्याप्रामाण्य के बारेमें भी कई तरहके नये विवाद भी रसेल्ने दार्शनिक चिन्तनके क्षेत्रमें जो खड़े किये उन्हें रसेल्का विशिष्ट अवदान मानना पड़ता है. स्वयं रसेल् कहते हैं कि **''बीजगणित और शुद्ध अंकगणित के बहोत सारे नियम निगमनात्मक तर्कशास्त्रपर ही अवलम्बित होते हैं. एतावता इमानुएल् कान्ट् जिसे अनुभवातीत संश्लेषणात्मक विधान मानता था वह असिद्ध हो जाता है... अतः दर्शनका अधिकांश भाग शब्दसंरचनाके अलावा अन्य कुछ भी नहीं'.'** [१५३]

'बर्ट्रेंड् रसेल्'स् फिलोसोफी' नामक निबन्धसंग्रहमें रोड्रिक् एम. कीशेल्मने रसेल्के मतमें 'साक्षात्परिचयात्मक बोध'पर लिखी अपनी पाण्डित्यपूर्ण विवेचनामें रसेल्की ज्ञानमीमांसकीय चिन्तनयात्राके चार पड़ाव दिखलाये हैं :

> [१]सर्वप्रथम प्रतिभास और सत् की विवेचनाके अन्तर्गत रसेल्के सम्मुख, अन्तःकरण(mind) भौतिक वस्तु(material things) और ऐन्द्रियकोपलब्धि (sense data) के आपसी सम्बन्धोंके अन्तर्गत प्रथम और तृतीय के आपसी सम्बन्धको

> निर्धारित करनेकी समस्या थी.
>
> [२]बादमें रसेल्ने प्रथम अन्तःकरणका और द्वितीय भौतिक वस्तुका तृतीय ऐन्द्रियकोपलब्धिमें ही विश्लेषणात्मक अवशेषण कर देना चाहा.
>
> [३]कुछ और बादमें उक्त तीनोंको ही वस्तु माननेके बजाय इनका घटनाओंके रूपमें अवशेषण करना चाहा.
>
> [४]अन्ततः इन्हें घटनाओंके भी रूपमें देखनेके बजाय गुणधर्मोंके संघातके रूपमें अवशेषण कर दिया गया.[१५४]

इस तरह हम देख सकते हैं कि रसेल्का चिन्तन बौद्धोंके **''कल्पनापोढम् अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्''** सूत्रके साथ कितना अधिक प्रत्यासन्न है. बौद्धोंकी *कल्पना* रसेल्के चिन्तनमें *मेंटल् कन्स्ट्रक्शन्* का रूप धारण कर प्रकट हुयी सी लगती है. जैसे वहां ज्ञेयरूप बाह्यार्थ और ज्ञातृरूप अन्तरात्मा का तद्विषयक प्रवृत्तिविज्ञानात्मिका और आलयविज्ञानात्मिका संवित्के प्रवाहसे पृथक् अस्तित्व नहीं, वैसे ही रसेल्के चिन्तनमें भी न तो स्थिर माइंड् और न स्थिर मेटर् का ही अस्तित्व मान्य किया गया है. बौद्ध दर्शनमें द्रव्यसमवेत जाति/सामान्य, बाह्य गुण-कर्म-सामान्योंके समवायी स्थिर द्रव्यको; एवं, आन्तर गुण-कर्म-सामान्योंकी समवायी स्थिर आत्माको अमान्य किया गया है. ऐसे ही रसेल्के मतमें भी जाति/सामान्यको वस्तुनिष्ठ धर्म माननेके बजाय तार्किक संरचना माना गया है; और, मेटर्/ऑब्जेक्ट् तथा माइन्ड्/सब्जेक्ट् दोनोंको ही स्थिर द्रव्यतया अमान्य किया गया है. जैसे बौद्ध दर्शन सर्वास्तित्ववाद बाह्यार्थानुमेयवाद विज्ञप्तिमात्रास्तित्ववाद और सर्वशून्यवाद यों इतरेतरविरुद्ध अभिप्रायोंका संकलन है, ऐसे ही रसेल्का मत भी उतने ही विस्तृत आयाममें परिवर्तित होती रही धारणाओंका प्रवाह है. अन्तर इतना अवश्य है कि विनेयजन और विनीतजन के अधिकारभेदोंके अनुरोधवश बौद्ध दर्शनमें उपदेशभेद प्रकट हुवा है, जबकि रसेल्का मत कभी भी परिनिष्पन्न निश्चित या निष्कृष्ट चिन्तनके रूपमें प्रकट होनेके बजाय एक निरन्तर परिवर्तित होती रहती

चिन्तनप्रक्रिया या विविध धारणाओंके संघातके रूपमें ही सामने आता है, स्वयं उन्हें अभिमत बाह्य या आन्तर अस्थिर द्रव्यकी ही तरह!

सन् १९१४ में प्रकाशित *लोजिक् एन्ड् नॉलेज्* ग्रन्थमें[१५५] साक्षात्परिचयात्मक बोधकी मीमांसाके उपक्रममें रसेल्ने छह मुद्दोंके निकषपर बोधके स्वभावका परीक्षण किया है : (१)क्या अस्पष्ट और परिधिवर्ती प्रतिभानको अनुभव माना जा सकता है? (२)क्या सभी या कोई भी वास्तविक धारणा वर्तमान अनुभवके अन्तर्भूत मानी जा सकती है? (३)भूतकालिक वस्तुओंकी स्मृतिको क्या अनुभव माना जा सकता है? (४)कैसे हमे पता चल जाता है कि वस्तुओंका समुदाय जो सम्प्रति अनुभूत हो रहा होता है, वह सर्वविशेषोंका नहीं परन्तु कतिपय विशेषोंका समुदाय है? (५)क्यों हमें ऐसा लगता है कि हमारा वर्तमान और भूतकालिक अनुभव *एक* किसी अनुभवके अंशरूप हैं, नामशः, ऐसा अंशी अनुभव कि जिसे हम 'अपना' कहते हैं? (६)वह कौन सा हेतु है कि जिसके कारण हमें पता चल जाता है कि हमारा सकल अनुभव भी सकलसंग्राहक नहीं?

(१)रसेल् प्रथम प्रश्नका उत्तर ऐसे अनुभवके अस्वीकारमें ही देते हैं. (२)द्वितीय प्रश्नके उत्तरतया भी रसेल् कहते हैं कि पृथ्वी सूर्यकी परिक्रमा करती है ऐसी हमारी धारणा वास्तविक लगती है परन्तु इसे 'साक्षाद् अनुभव' नहीं कहा जा सकता. (३)रसेल् इस प्रश्नके समाधानार्थ तीन पृथक् प्रकारोंका प्रभेद दिखलाते हैं : [क]स्मृत्युपस्थापित अनुभूतविषयक प्रत्यय, [ख]बौद्धिकस्मृति, उदा., कल जिसे हमने देखा उसका स्मरण होना, [ग]ऐन्द्रियकस्मृति, उदा., सद्योनुभूत विषयकी ऐसी स्मृति कि जिसमें अनुभूतिका प्रभाव हमारे (शरीर और मन से) अभी दूर न हुवा हो. इनमेंसे प्रथम और द्वितीय का तो साक्षाद् अनुभूतिके रूपमें अस्वीकार स्पष्ट ही है परन्तु तृतीयके बारेमें रसेल् अपना अभिप्राय स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट नहीं करते हैं. (४)प्रश्नके सुविशद समाधानमें

रसेल् यह स्वीकारते हैं कि किसी वस्तुविशेषको यद्यपि अपने वर्तमान अभुभवके बिना हम जान नहीं सकते तथापि इतना तो हमें अवगत होता ही है कि हमें पूर्ण ज्ञान नहीं. अतएव हमें अपने अज्ञानका अनुभव होता है. यथा भूतकालिक अनुभूत वस्तुका अनुभूतत्वेन स्मरण होनेपर भी नाम्ना या अन्यान्यविवरणात्मना स्मरण न होना. इस स्पष्टीकरणके बावजूद यह बहोत स्पष्ट नहीं हो पाता है कि इसे अनुभूतिके उदाहरणतया स्वीकारना या वस्तुविवरणतया. सम्भवतया वस्तुविवरणमें ही अन्तर्भाव अधिक उचित लगता है. (५)इसकी व्याख्यामें रसेल् कहते हैं कि हमारे भूतकालिक अनुभवोंको तो 'हमारे' कह पानेका आधार केवल स्मृति ही होती है. कई बार, परन्तु, ऐसा भी होता है कि जैसे अचानक घड़ियालका घंटा सुनायी दे तो हमें यह समझमें आ ही जाता है कि पहले भी यह कई बार बजा होगा, चाहे हम उसे न भी सुन पाये हों. इसे परन्तु हमारे वर्तमान अनुभवके रूपमें स्वीकारा नहीं जा सकता. (६)हमारा सम्पूर्ण ज्ञान भी सर्वविषयसंग्राहक नहीं होता जैसे दूसरे व्यक्तिके भीतर अन्तःकरण है कि नहीं यह उसे पूरी तरह जान लेनेपर भी हम अनुभव नहीं कर सकते केवल अनुमान ही कर सकते हैं.

इस वर्तमान अनुभूतिको ही रसेल् 'साक्षात्परिचयात्मक बोध' (knowledge by acqaintance) कहते हैं. इससे पूर्व सन् १९११ में प्रकाशित *मिस्टिसीज़म् एन्ड् लोजिक्* और सन् १९१२ में प्रकाशित *प्रॉब्लेम्स् ऑफ् फिलोसोफी* ग्रन्थोंमें इस साक्षात्परिचयात्मक बोध और विवरणात्मक बोध का पार्थक्य परिभाषित किया गया था. इनमें पारस्परिक विरोधाभास भी अल्प तो नहीं है. यथा—

> सा.बो.**''किसी वस्तुके साथ मेरा साक्षात्परिचय तब माना जा सकता है जब उस विषयके साथ मेरा अव्यवहित ज्ञानात्मक सम्बन्ध हो... यह तब भी हो सकता है, जब वह वस्तु मेरे अन्तःकरणके सम्मुख वस्तुतः उपस्थित**

न भी हो, बशर्ते कि पहले कभी सम्मुख रही हो और अवसरोपात्त पुनः सम्मुख उपस्थित हो पाती हो'.' वि.बो.''वस्तुके विवरणात्मक बोधमें वस्तुविशेषके गुणधर्मों या विकल्पोंका भान होता है. सामान्यतया ऐसी वस्तु साक्षात्परिचयद्वारा अवगत नहीं होती'.' ''दो तरहके बोध होते हैं : वस्तुबोध और तथ्यबोध... प्रथम प्रकारका बोध साक्षात्परिचयात्मक होता है, तथ्यबोधकी तुलनामें सरलतर होता है; और, तर्कजन्य तथ्यबोधपर अनिर्भर होता है. विवरणात्मक बोध जबकि किसी न किसी तथ्यके बोधपर आश्रित अनुबोध होता है... साक्षात्परिचयात्मक बोधके दो उपभेद यों सोचे जा सकते हैं कि [१]साक्षात्स्मरणात्मक बोध और [२]साक्षादन्तर्निरीक्षणात्मक बोध... विद्यमान वस्तुविशेषके अलावा सामान्य गुणधर्मों या प्रत्ययों का भी हमें साक्षात्परिचयात्मक बोध हो सकता है. उदाहरणतया श्वेतता, विविधता या भ्रातृता आदिका. प्रत्येक पूर्ण उद्देश्यविधेयभावात्मक वचनमें कमसे कम एक पद तो सामान्य गुणधर्म या प्रत्यय का वाचक होता ही है'.'[१५६]

इन उद्धरणोंके अवलोकन करनेसे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि यह साक्षात्परिचयात्मक बोध बौद्धों या वाल्लभ वेदान्त को अभिमत निर्विकल्प बोध तो नहीं है. सामान्य गुणधर्मों या प्रत्ययों के बोधको भी रसेल् बौद्धोंकी तरह शुद्ध कल्पनारूप न मान कर साक्षाद्बोधगम्य भी यहां मान रहे हैं. परन्तु यह साक्षाद्बोध बाह्यार्थतया विद्यमान वस्तुसे जन्य होनेके बजाय साक्षात्परिचयके उपभेदरूप साक्षात्स्मरणात्मक या साक्षादन्तर्निरीक्षणात्मक बोधसे जन्य होना चाहिये. क्योंकि वस्तुके सम्बन्धोंके बोधपर आश्रित अनुबोध तो पुनः विवरणात्मक बोधके प्रकारोंमें अन्तर्गणित हो जायेगा. बहुधा इस पृथक्करणका उपयोग रसेल् एक टेक्सीकी तरह करते हैं—जहां जाना हो वहां पहुंच कर जैसे उसे

छोड़ दिया जाता है वैसे ही. क्योंकि कभी आत्मावभास विवरणात्मक बोध माना गया है, साक्षात्परिचयात्मक बोध नहीं, तो कभी सामान्य गुणधर्म प्रत्यय ही नहीं प्रत्युत अन्तःकरणके सम्मुख अनुपस्थित वस्तुके बोधको भी साक्षात्परिचयात्मक मान लिया गया है! कहीं निखिल सम्बन्धोंसे रहित वस्तुमात्रको साक्षात्परिचयात्मक बोधका विषय माना गया है तो कहीं श्वेतता विविधता या भ्रातृता जैसे सामान्य प्रत्यय और सम्बन्धों को भी साक्षात्परिचयात्मक बोधका विषय मान लिया गया है. जैसे बाह्य वस्तु और अन्तरात्मा को, रसेल्, तार्किक संरचना मानते हैं, वैसे ही विशेष ऐन्द्रियकोपलब्धि (particulr sense data) को साक्षात्परिचयात्मक बोधका विषय मान भी लिया जाय तोभी सभी बाह्य वस्तुओंको जब *'ऐन्द्रियकोपलब्धिकसंघात'* कहा जाता हो तो यह पुनः एक तार्किक संघात या संरचना रूपी वर्ग ही सिद्ध होगा. इसके ऐसे रूपका पुनः यदि साक्षात्परिचयात्मक बोध होता हो तो समानन्यायसे बाह्य वस्तुका वह भी सिद्ध होगा. अन्यथा यह विवरणात्मक बोधसे ही सिद्ध होता हो तो ऐन्द्रियकोपलब्धिके भी बोधसे असम्पृक्त अस्तित्वमें कोई प्रमाण रह नहीं जायेगा. स्वयं ऐन्द्रियकोपलब्धि भी, रसेल्के मतमें, न तो आन्तरिक बोधरूपा होती है और न बाह्यवस्तुरूपा. वह तो नेत्रपटलोंसे आरब्ध प्रकाशसंवेदनको मस्तिष्कतक पहुंचानेवाले एक जटिल दृष्टिनाड़िकातन्त्रवश घटित होनेवाली बोधसे पृथक् कोई घटना है. प्रश्न यहां यह उपस्थित होता है कि हमारी चेतनामें साक्षात्परिचयभास्य होनेपर भी इस घटनाका ऐसा स्वरूप साक्षात्परिचयभास्य नहीं होता. अतः उसे शरीरविज्ञान और मनोविज्ञान द्वारा प्रदत्त विवरणात्मक बोधरूपमें ही लेना पड़ता है. अतः जैसा स्वरूप साक्षात्परिचयभास्य होता है उसे परिभाषितरीतिसे 'ऐन्द्रियकोपलब्धि' या 'सेंस् डेटा' नहीं कहा जा सकता. जिसे इन नामोंसे पुकारा जा रहा वह तो स्वयं रसेल्द्वारा संरचित विवरण ही है. अतः कुछ विरोधाभास यहां स्पष्ट झलकता है. ऐन्द्रियकोपलब्धिके बारेमें घटित होते साक्षात्परिचयद्वारा इसे इंगित माना जाये (on the basis of

*c151E*c142E*c242E*c247E*c243E

intentionality of acquaintance with sense data) तो इसी आधारपर बाह्यवस्तुको भी साक्षात्परिचयात्मक बोधार्थतया अर्पित मान लेनेमें क्या आपत्ति हो सकती है ? अस्तु.

इसके बाद क्रमप्राप्त होता है विवरणात्मक बोध अर्थात् बोधका परोक्ष प्रकार. यह अनुमितिरूप भी हो सकता है और शाब्दबोधरूप भी. इन दोनोंके बारेमें रसेल्ने सुविशद नूतन तथा हृदयङ्गम चिन्तनका अवदान दार्शनिक जगत्को दिया है. विशेषतः प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र तो अत्यद्भुत विवेचना है परन्तु उसका विवरण प्रस्तुत प्रसंगमें आवश्यक नहीं होनेसे उस विस्तारमें गये बिना शाब्दबोधके बारेमें कुछ विमर्श अपरिहार्य लगता है. चाहे परार्थानुमिति हो या युक्ति हो अथवा शाब्दिक सूचना या परिभाषा चारोंमें ही एक या एकाधिक पक्ष-साध्य-प्रतिज्ञावचन, पक्ष-हेतु-प्रतिज्ञावचन और साध्य-हेतु-व्याप्तिनिर्देश अथवा उद्देश्य-विधेयभावात्मक विधान अनिवार्य होता है. इसमें न्यूनतम अपेक्षा पक्षतया, साध्यतया, हेतुतया, उद्देश्यतया या विधेयतया विवक्षित अर्थोंके वाचक नामोंकी होती है अथवा तत्तद्-नाम्ना अभिप्रेत विवरणोंकी होती है. अधिकाधिक अपेक्षा उन नामों और/अथवा विवरणों के बीच रहे एक/अधिक उद्देश्य-विधेयभावात्मक सम्बन्ध/सम्बन्धोंकी होती है. इस पृष्ठभूमिकाके आधारपर रसेल्का अभिप्राय कुछ इस तरहका सामने आता है कि किसी भी नामद्वारा किसी विद्यमान विशेष वस्तुको ही तन्नामार्थतया अभिप्रेत माना जाता है. यदि ऐसा शक्य न हो तो वह ध्वनि नाम न हो कर निरर्थक ध्वनि सिद्ध हो जाती है. जबकि उद्देश्यविधेयभावात्मक प्रतिज्ञावचनद्वारा अभिप्रेत उद्देश्यविधेयभाव तथ्यात्मक न हो तो भी प्रतिज्ञावचन निरर्थक नहीं बन जाता. क्योंकि निन्दार्थक/प्रशंसार्थक उद्गार अथवा आज्ञार्थक/याचनार्थक/स्वसंकल्पद्योतनार्थक वचन न तो सत्य हो सकते हैं और न मिथ्या ही. केवल उद्देश्यविधेयभावात्मक प्रतिज्ञावचनोंमें ही ऐसा गुण होता है कि वे या तो सत्य होते या मिथ्या. क्योंकि उद्देश्यतया अभिप्रेत

वस्तुनामार्थ/वस्तुविवरणार्थका विधेयतया अभिप्रेत वस्तु/वर्ग/गुणधर्म/क्रिया/-सम्बन्ध आदिके साथ विवक्षित सम्बन्ध हो तो प्रतिज्ञावचन यथार्थ होता है अन्यथा अयथार्थ. कोई शब्द नाम हो सकता है या नहीं हो सकता, यह नामार्थतया विवक्षित वस्तुका अस्तित्व है या नहीं, इसपर निर्भर होनेवाली बात होती है. इसके विपरीत प्रतिज्ञावचनकी सार्थकता उद्देश्य-विधेयके बीच वचनाभिप्रेत सम्बन्धके वस्तुतः होने या न होनेपर निर्भर नहीं करती, प्रतिज्ञावचनका प्रामाण्यके उसके निर्भर होनेपर भी. उदाहरणतया "सूर्यपिण्ड फुटबोलके पिण्डसे थोड़ा ही बड़ा होता है" वचन अप्रामाणिक होनेपर भी निरर्थक वचन नहीं माना जा सकता.[१५७]

अतएव ज्ञानकी ऐसी परोक्षविधाकी और भी गहनमीमांसा करते हुवे रसेल् कहते हैं कि सामान्यविधानात्मक, उदा., "सभी यूनानी मनुष्य होते हैं" प्रतिज्ञावचनोंके द्वारा मनुष्यके व्यापक वर्गके भीतर यूनानी वर्गका अन्तर्भाव प्रतिपिपादयिषित होनेपर भी यूनानिओंके अस्तित्वका विधान स्वीकारा नहीं जा सकता, केवल 'होते हैं' क्रियापदकी दुहाई दे कर. क्योंकि इसमें यूनानिओंके विद्यमान होनेके बारेमें कुछ भी नहीं कहा जा रहा है. यदि यूनानिओंकी विद्यमानता प्रतिपादित करनी हो तो उल्लिखित विधानके साथ "यूनान देशमें अभी भी लोग बसते हैं" जैसे वचन इसके साथ और जोड़ने पड़ेंगे. भारतीय दर्शनके सन्दर्भमें जैसे केवल व्याप्तिनिर्देशके बलपर अनुमिति शक्य नहीं होती क्योंकि अनुमित्यर्थ पक्षधर्मतानिर्देश भी अपरिहार्य जो माना गया है, यह बिलकुल वैसी ही बात नहीं है, क्योंकि यह मीमांसा तो शाब्दबोधकी प्रक्रियाके साथ सम्बन्ध रखनेवाली बात है. अतः किसी पर्वतपर धूम-वह्नि विद्यमान हों या न हों एतावता जैसे "यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः" व्याप्तिनियमके विधायक वचनका प्रामाण्य खण्डित या मण्डित नहीं होता. ऐसे ही यूनानी कहीं हों या न हों एतावता "सभी यूनानी मनुष्य होते हैं" वचनके प्रामाण्यका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है.

उदाहरणतया ''सभी किमेरा (सिंहमुख अजाकबन्ध सर्पपुच्छ ऐसा कल्पिताकारवाला प्राणी) पशु होते हैं'' तथा ''सभी किमेरा श्वासोच्छ्वासमें अग्निज्वाला लेते-छोड़ते हैं'' इन वचनोंके आधारपर ''कुछ पशु श्वासोच्छ्वासमें अग्निज्वाला लेते-छोड़ते हैं'' ऐसे यौक्तिक निष्कर्षमें तर्कदोष न होनेपर भी जो अपार्थकता प्रकट होती है वही इस बातका प्रमाण है सामान्यविधानात्मक वचन अस्तित्वके विधायक नहीं होते[१५८] इसके विपरीत विशेषविधानात्मक वचनोंको रसेल् अस्तित्वविधायक मानते हैं. क्योंकि उनके विश्लेषण करनेपर यह प्रकट होता है कि जैसे सद्योनिर्दिष्ट ''कुछ पशु श्वासोच्छ्वासमें अग्निज्वाला लेते-छोड़ते हैं'' वचनके द्वारा प्रतिपिपादयिषित अर्थ है : ''कमसे कम एक प्राणी तो ऐसा होता है कि जो पशु होता है और श्वासोच्छ्वासमें अग्निज्वाला भी लेता-छोड़ता है'' और स्पष्ट है कि एक भी प्राणी ऐसा न दीखनेपर इस प्रतिज्ञावचनका प्रामाण्य खण्डित हो जाता है. अतः विशेषविधायक प्रतिज्ञावचन अस्तित्वविधायक होते हैं और इनका प्रामाण्य साक्षात्सत्यापनपर (verifiability) निर्भर करता है. इसी तरह नामके गर्भमें जब विवरण छिपा हुवा होता है तो वह विवरण सामान्यविधानात्मक या विशेषविधानात्मक प्रतिज्ञावचनगर्भित है, इस रहस्यको उद्घाटित करनेपर ही नामोल्लेखके द्वारा अस्तित्वका विधान शक्य है कि नहीं यह निर्धारित करना चाहिये. अतएव ''ईश्वरका अस्तित्व है'' ऐसे विधानको रसेल् निरर्थक मानते हैं क्योंकि 'ईश्वर' नाम्ना किसी विशेष व्यक्तिके साथ साक्षात्परिचयात्मक बोधसम्बन्ध हमारा होता नहीं है. परिणामतः 'ईश्वर' नाम कई सारे सामान्यविधानात्मक प्रतिज्ञावचनोंसे गर्भित नाम है. उदाहरणतया—

> ''[१]प्रत्येक कार्यका कोई कारण या कर्ता होता है. [२]जगत्की प्रत्येक वस्तु कार्यरूपा प्रतीत होती हैं. अतः [३]ऐसे कार्योंकी शृंखला भी कार्यरूपा होनी चाहिये. [४]उस कार्यशृंखलाका भी अतएव कोई कारण/कर्ता होना चाहिये. [५]उस कारण/कर्ताको 'ईश्वर'नाम्ना अभिहित किया जाता है. और [६]ऐसे ईश्वरका अस्तित्व है'.'[१५९]

इस तरह इस प्रतिज्ञावचनका विश्लेषण करनेपर १-३ तकके सारे प्रतिज्ञावचन सामान्यविधानात्मक प्रतिज्ञावचन होनेसे अस्तित्वार्थक होनेके बजाय व्याप्यव्यापकभावनियमार्थक वचन हैं. ४ तथा ५ वचनोंमें 'कार्यकारणशृंखला' और 'उसका कर्ता' ये दो नाम उद्देश्यतया योजित हैं और दोनों ही विधान विशेषविधानात्मक प्रतिज्ञावचन प्रतीत होते हैं; फिरभी, ये दोंनों ही वचन १-३ वचनोंके निष्कर्षतया प्राप्त वचन हैं. अतः विवरणसंक्षेपरूप नाम होनेसे अस्तित्वविधायक नहीं रह जाते. फलतः ६ वचन भी विशेषव्यक्तिके अस्तित्वका विधायक विशेषप्रतिज्ञावचन जैसा प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः अनेक नियमोंके विवरणोंका संक्षेपरूप होनेसे अस्तित्वके विधानार्थ सक्षम या सार्थक प्रतिज्ञावचन सिद्ध नहीं होता है. यह रसेल्के अनेकत्र प्रतिपादित विशद युक्तियोंका संक्षिप्त सार है. भगवान् बुद्ध भी ईश्वरके अस्तित्वको इन्कारनेके बजाय 'अव्याकृतप्रश्न' अर्थात् अव्याख्येय प्रश्न होनेसे अनुत्तरणीय मानते थे. ऐसे ही रसेल् भी ''ईश्वरका अस्तित्व है'' जैसे प्रतिज्ञावचनका खण्डन करनेके बजाय इन्हें अर्थहीन विधान मानते हैं. आज जबकि बर्ट्रेंड् रसेल् विद्यमान नहीं तब ''बर्ट्रेंड् रसेल् एक महान् दार्शनिक थे'' ऐसा विधान—

> ''[१]सभी दार्शनिक मनुष्य होते है. [२]सभी मनुष्य चिन्तनशील प्राणी होते हैं. [३]सभी चिन्तनशील मनुष्योंमेंसे जो पराभौतिकी तर्कशास्त्र गणितशास्त्र आदि विषयोंका चिन्तन करते हैं उन्हें 'दार्शनिक' कहा जाता है. [४]सभी चिन्तन आदि प्रक्रियाओंमें कुछ न कुछ तरतमभाव होता ही है. [५]सभी तरतमभावापन्न दार्शनिक चिन्तनोंमें गम्भीर चिन्तन करनेवालेको 'महान् दार्शनिक' कहा जाता है. [६]''बर्ट्रेंड् रसेल्'नाम्ना लिखित सभी ग्रन्थोंमें गम्भीर चिन्तन उपलब्ध होता है. अतः [७]बर्ट्रेंड् रसेल् एक महान् दार्शनिक थे'.'

इन १-६ प्रतिज्ञावचनोंमें सभी सामान्यविधायक प्रतिज्ञावचन हैं, जो अस्तित्वविधायक नहीं माने जाते. अन्तिम वचनमें 'बर्ट्रेंड् रसेल्'

नाम्ना अभिहित अर्थके साथ आज साक्षात्परिचयात्मक बोध शक्य नहीं रह गया सो वह भी व्यक्तिनाम न हो कर विवरणसंक्षेप ही कहलायेगा. सामान्यविधानात्मक प्रतिज्ञावचन अस्तित्वविधायक नहीं होते ऐसी छोटी सी (वैसे पर्याप्त गम्भीर भी है ही) बातके कारण उस नामद्वारा अभिहित अर्थव्यक्ति रसेल्को स्वयं मैं ही महान् दार्शनिकसे न्यून स्वीकारने कथमपि उद्यत नहीं हो पाऊंगा.

इस सम्पूर्ण विचारनीतिके मूलमें रहे ऑक्केम्के उस्तरे अर्थात् कल्पनालाघवके तर्कके बारेमें वाल्लभ वेदान्त यह विचार प्रकट करना चाहेगा कि जब कोई वस्तु प्रमाणसिद्ध न हो और दृष्ट वस्तु या तथ्य के बारेमें उसके किसी हेतुकी उत्प्रेक्षा करनी पड़ती हो तब, वहां यह तर्क उपयोगी होता ही है. प्रमाणसिद्ध वस्तु या तथ्य का, परन्तु, कल्पनालाघवके तर्कद्वारा अपलाप सर्वथा अनुचित होता है. अतः इस आधारपर बाह्यार्थ यदि प्रत्यक्षप्रमाणके बलपर सिद्ध होता हो तो कोई वस्तु ज्ञानविषय बने बिना सिद्ध नहीं हो पाती परन्तु ज्ञेय वस्तुकी विद्यमानताके बिना भी ज्ञान तो स्वप्नादिके दृष्टान्तमें सिद्ध होता ही है ही. अतः कल्पनालाघववशात् केवल ज्ञानकी सत्ता स्वीकार लेनी चाहिये, ऐसे तर्कको वाल्लभ वेदान्त प्रमाणविरुद्ध शुष्क तर्क मान कर उपेक्षणीय मानना चाहेगा. अतः जैसा कि स्वयं रसेल्ने कहा है **''दर्शनशास्त्रका आरम्भबिन्दु इतना सरल होता है कि उसकी उल्लेखनीयता नगण्य ही होती है और पर्यवसान तो ऐसे विरोधाभासमें हो जाता है कि जिसे स्वीकारने कोई भी उद्यत ही न हो पाये!'.**'[१६०] वस्तुतः ऐसी दुविधा, जैसा कि स्वयं रसेल्ने अपनी आत्मकथामें इसे स्वीकारा भी है, न केवल स्वयं उन्हें ही होती थी अपितु प्रत्येक रसेल्के लेखनको चाहनेवाले पाठकोंको भी सताती ही है!!

अन्तमें जहां तक भ्रान्तिके बारेमें रसेल्के चिन्तनके प्रकारकी जिज्ञासाके समाधानका प्रश्न है तो वाल्लभ वेदान्तके दृष्टिकोणके अनुसार

यह अवश्य उल्लेखनीय हो जाता है कि जिसे वाल्लभ वेदान्त निर्विकल्प एवं सविकल्प प्रत्यक्ष मानता है उसे रसेल् भी भ्रान्ति नहीं मानना चाहेंगे क्योंकि वे स्वयं कहते हैं :

> ''The first thing to realise is that there are no such things as 'illusion of sense'. Objects of sense, even when they occur in dreams, are the most indubitably real objects known to us'.'
>
> ''There are in fact no illusions of the senses, but only mistakes in interpreting sensational data as sign of things themselves'.''[१६१]

महाप्रभुद्वारा प्रदत्त अन्यख्यातिकी व्याख्याके साथ तुलनार्थ ये वचन नितान्त अवधेय बन जाते हैं :

> **''वस्तुके स्वरूपके बारेमें जो अन्यथा प्रतिभास होता है वह जीवोंकी व्यामोहिका माया, जिसका पहले हम निरूपण कर चुके हैं, उसका कार्य होता है. वह जीवमें व्यामोह प्रकट करके जीवके अन्तःकरण अर्थात् बुद्ध्यादिको भी व्यामोहित कर देती है. उसके द्वारा व्यामोहिता बुद्धि पदार्थोंको अन्यथा मान लेती है, नकि पदार्थ कभी अन्यथा होते हैं. अतः सारे प्रमाण और साधन बुद्धिके हेतु आवश्यक होते हैं... ''ज्ञेय अर्थ प्रतीत नहीं होता'' कहनेका तात्पर्य यह है कि एक ऐसी प्रतीति जो ज्ञेय अर्थके बिना ही घटित हो जाती हो. अतः पदार्थोंके याथात्म्यके ज्ञापनार्थ प्रमाण उपयोगी होते हैं... विषय या चक्षु तो दोनों ही, जड़रूप होनेसे, नियत स्वभाववाले ही होते हैं, वे अन्यथाप्रतीतिके हेतु बन नहीं सकते... और चिदंशका जड़में प्रकट होनेवाला विलास होनेके कारण बुद्धिको तो मायाजनित नहीं माना जा सकता है'.'**

''बुद्धिसे ही अनुगृहीत होनेवाली इन्द्रियां ही अनुभूति या क्रिया को सम्पन्न करने सक्षम हो पाती हैं. अतएव बुद्धिके तारतम्यवश इन्द्रियसे प्रकट होनेवाली अनुभूति और क्रिया में भी तारतम्य प्रकट हो जाता है... क्योंकि अन्यथा केवल चक्षुसे प्रकट होनेवाली अनुभूतिमें तारतम्य प्रकट ही नहीं हो पायेगा'.''[१६२]

परिशेषाद् अगतिकतया यह स्वीकारना ही पड़ता है कि यदि मायाको हटा दिया जाये दोनों ही चिन्तनोंमें भ्रान्तिकी व्याख्या इन्द्रियार्थतया गृहीत विषयसे अन्य किसी विषयकी बुद्धिद्वारा की जाती कल्पना ही होती है, इस अर्थमें यहां पर्यवसित होता है. यों दोनों मतोंके बीच सहमति प्रकट होती ही है.

ऐसा नहीं कि बर्ट्रेंड् रसेल्से पूर्व या उसके समयमें ही या बादमें भी यूरोपीय चिन्तनमें भ्रान्तिके बारेमें हमारे द्वारा संकलित विचार-विवादभेदके अलावा भी अन्य प्रक्रिया या वाद अथवा विवरण प्रस्तुत नहीं हुवे. और भी अनेक दार्शनिक हुवे केवल नामग्रहणार्थ **थोमस् रीड्** (ई.१७१०-१७९६)ने बर्कलेके काल्पनिकवादके खण्डनार्थ आक्षेप लगाये थे कि शरीरमें सूई चुभानेपर चुभन और सूई के बीच काल्पनिकवादी भेदका अनावश्यक ही विलोपन कर देते हैं. इसी तरह अन्य भी **फ्रांज् ब्रेंतानो**(ई.१८३८-१९१७) **एलेक्सिअस् मीनोंग्**(ई.१८५३-१९२०) आदि बाह्यार्थास्तित्ववादी चिन्तक हुवे ही हैं. हमने देखा कि कैसे स्वयं बर्ट्रेंड् रसेल् भी तत्त्वमीमांसाकीय प्रक्रियामें काल्पनिकवादको अस्वीकार करके[१६३] ज्ञानमीमांसकीय प्रक्रियामें अविज्ञात बाह्यार्थके विद्यमान होनेपर भी जैसा या जिस तरहका बाह्यार्थ हमें अनुभूतिमें प्रतिभासित होता है, केवल उस अनुभूयमान प्रकारके बाह्यार्थको बाह्यार्थतया अनंगीकार करनेके मतको प्रतिपादित करते हैं.

सन् १९१०में अमरीकाके छह नवबाह्यार्थवादी (New Realists)

ई.बी.हॉल्ट्(ई.१८७३-१९४६), **डब्ल्यु. टी. मार्वीन्** (ई.१८७२-१९४६), **आर्. बी. पेरी**(ई.१८७६-१९५७), **डब्ल्यु. बी. पिट्किन्**(ई.१८७८-१९५३), **डब्ल्यु.पी.मोन्तेग्**(ई.१८७३-१९५७) ने एक बाह्यार्थवादी घोषणापत्र प्रकाशित करवाया था. इस सोलह मुद्दोंवाले घोषणापत्रके आधारपर भी भ्रान्तिविवेचनाका प्रयास अतीव उपयोगी एवं तुलनात्मक सूचनाप्रदायक बन सकता है. इसी तरह दूसरे भी गुटके कुछ सदस्य **ज्योर्ज् सेन्टिआना**(ई.१८६३-१९५२), **ओ. ए. लवजोय्** (ई.१८७३-१९६२), **जे. बी. प्रॅट्**(ई.१८७५-१९४४), आदि अनेक आलोचनात्मक बाह्यार्थवादी दार्शनिक हुवे हैं.[१६४]

काल्पनिकवादको स्वीकारनेवाले आधुनिक चिन्तकोंमें भी अनेक नामोंमे से, केवल उदाहरणार्थ ही, उल्लेखनीय चिन्तक **जे. एम्. एफ्. मेक्टेगार्ट्** (ई.१८६६-१९२५), **एच्. एच्. जोआकिम्**(ई.१८६८-१९३८) आदिको गिनाया जा सकता है.[१६५]

इसी तरह अस्तित्ववादी चिन्तकोंमें भी **सोरेन् किर्केगार्द्**(ई.१८१३-१८५५), **फ्रेड्रिक् नीट्शे**(ई.१८१३-१९००), **एड्मन्ड् हर्शल्**(ई.१८५९-१९३८), **पॉल् टिलीच्**(ई.१८८६-१९६५), **मार्टीन् हैडेगर्**(ई.१८८९-१९७९); और, **ज्याँ पॉल् सार्त्र्**(ई.१९०५-१९८०), आदि अनेक नाम गिनाये जा सकते हैं.[१६६]

इसी तरह भारतीय चार्वाकोंकी तरह प्रत्यक्षैकप्रामाण्यवादकी धारणाको दार्शनिक गम्भीरतासे मण्डित करनेवाले विएना सर्कलद्वारा प्रवर्तित *लोजिकल् पोज़िटिवीज़म्* के साथ जुड़े **मोरित्ज् स्लिक्**(ई.१८८२-१९३६), **रुडोल्फ् कार्नेप्**(ई.१८९१-१९७०), **लुड्विग् विट्गेन्स्टाइन्** (ई.१८८९-१९५१); और, **ए. जे. एयर्** (ई.१९१०-१९८९) आदि अनके हुवे हैं.[१६७]

परन्तु इन सभी दार्शनिकोंके मतोंकी समीक्षा या तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करनेमें सर्वप्रथम एक बाधा तो इनके लेखनके बारेमें स्वयं

मेरी अपनी जानकारीका अल्पीयसी होना है. दूसरी बाधा समय और विस्तारभीति की भी है ही. अतः इस लेखनको समाप्त करनेसे पहले जिस एक मतके थोड़ेसे उल्लेख करनेके लोभका मैं संवरण नहीं कर पाता हूं, वह है मनोविज्ञानके क्षेत्रमें प्रकटा गेस्टाल्टवादी चिन्तन. सो उसे थोड़ा और देख लेना अच्छी बात होगी.

(१४) **अवयवविबोधयाथार्थ्यवादी गेस्टाल्ट् मनोविज्ञान :**

'गेस्टाल्ट्' पद जर्मनभाषासे अंग्रेज़ीमें आया है और इसका अर्थ *रीडर्स् डाइजेस्ट् डिक्शनरी* में यों दिया गया है **''भौतिक मानसिक या प्रतीकात्मक ऐसा एकीभूत आकारवान् अवयवी कि जिसके गुणधर्म उसके अवयवोंके विश्लेषणद्वारा अवगत न हो पाते हों'.'** अतएव *'गेस्टाल्ट् मनोविज्ञान'* का अभिप्राय उसी कोशके आधारपर समझना हो तो वह यों उपलब्ध होता है **''मनोविज्ञानका वह सम्प्रदाय या सिद्धान्त जो मनोवैज्ञानिक पदार्थोंको स्वेतरावशेषणानर्ह गेस्टाल्ट् स्वीकारता हो''** इस सिद्धान्तकी सुविशद विवेचना वोल्फ्गेंग् कोह्लेर्ने अपने *'गेस्टाल्ट् मनोविज्ञान'* नामक ग्रन्थमें की है. इनके प्रतिपिपादयिषित विषयकी पृष्ठभूमिका सार यों है कि अन्य किसी भी विज्ञानकी तरह मनोविज्ञानको भी अपने चिन्तन या अन्वषेण का आरम्भबिन्दु लोकसाधारण अकृत्रिम एवं अनालोचित अनुभवमें उपलब्ध होते जगत्के स्वरूपके आधारपर ही करना चाहिये. यह कथा और है कि चिन्तन या अन्वेषण के किसी तरहकी गहराईमें उतरनेपर उसका वही स्वरूप नभी निभ पाता हो. क्योंकि इसे अस्वीकार करनेपर विज्ञानकी किसी भी शाखाको अपना प्रस्थानबिन्दु ही मिल नहीं पाता है.[१६८]

कोह्लेर्का यह भी कहना है कि जो कुछ हमें दिखलायी या सुनायी देता है या जो कुछ हमारी आन्तरिक संवेदनाओंका विषय बनता है, उसके बजाय जब हम स्वयं देखने सुनने या संवेदना की विवेचनार्थ अपने-आपको योजित करते हैं, तब कुछ भिन्न ही

अनुभव हमें होने लगता है. इस अनुभवके आधारपर अनुभूयमान विषयके कुछ प्राथमिक गुणधर्म प्रकट होते हैं तो कुछ द्वैतीयक गुणधर्म भी प्रकट होते हैं. प्रारम्भमें दार्शनिकोंको ऐसा लगता था कि प्राथमिक गुणधर्म अनुभूयमान वस्तुके वस्तुगत गुणधर्म होंगे और द्वैतीयक गुणधर्म बुद्धि, मन या इन्द्रियों द्वारा वस्तुपर समारोपित. दर्शनेतिहास, परन्तु, इसकी गवाही देता है कि अन्तमें प्राथमिक गुणधर्मोंपर भी अविश्वास प्रकट हुवा ही. यों साक्षाद् अनुभूतिके किसी भी प्रकारको जागतिक याथार्थ्यकी सूचना प्रदान करनेमें अविश्वसनीय माना जाने लगा. स्पष्ट है कि ऐसी स्थितिमें चेतनकोशके इर्दगिर्द अनुभूत होते वातावरण औंर स्वयं वास्तविक वातावरण के बीच द्वैत सोचा जाने लगा. परिणामतया विज्ञानको भौतिक पदार्थोंका वास्तविक स्वतन्त्र विश्व, स्वतन्त्र भौतिक अवकाश, स्वतन्त्र भौतिक काल और स्वतन्त्र भौतिक गतिशीलता सोचनेको भी बाधित होना पड़ा. यों यह ज्ञानविषयीभूत जगत्के साथ ही हुवा ऐसा नहीं प्रत्युत ज्ञानाश्रयीभूत जीवकोशके साथ भी यही बरताव शुरु हो गया. [१६९]

इस विकट परिस्थितिके निराकरणार्थ कोह्लेर्का कहना है कि ज्ञानेन्द्रियोंकी संवेदनवाहिका नाड़ियोंके संस्थानसे घटित हमारे अनुभूतितन्त्रकी स्वयं विलक्षण उपलब्धिकी ओर हमें ध्यानसे निहारना चाहिये. कुछ लोग सोचते हैं कि अनुभूयमान किसी भी आकृतिसंस्थानके बोधके घटक तत्त्व जीवकोशसे बाहर रहते हुवे जीवकोश पर्यन्त अनुगत होते हैं या उसमें आरोपित हो जाते हैं. यह परन्तु वास्तविकतासे दूरवर्ती तथ्य है... प्रश्न यह भी उठ सकता है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियोंका तन्त्र स्वयंमें बाह्य जगत्के याथार्थ्यको निर्धारित करनेके लिये किस सीमातक विश्वसनीय हो सकता है. इस विषयमें यह अवधेय है कि हमारे चारों ओर विद्यमान भौतिक वस्तु और नेत्रेन्द्रिय के बीच प्रकाशकी तरंगे ही केवल सन्देशवहनका कार्य करती हैं. हम जानते हैं कि नेत्रघटक संवेदनशील कोशोंकी उद्दीपकसामग्री तो प्रकाश ही

होता है. वह अवयवावयविभावपूर्वक सन्देश नहीं पहुंचाता प्रत्युत साकल्येन ही पहुंचाता है. क्योंकि अवयवावयविभावपूर्वक प्रकाश यदि सन्देशोंका प्रापण करता होता तो तीव्र प्रकाशके परावर्तक स्रोत और पर्दे के बीचमें यथाकथञ्चित् किसी लेंस्को रख दिये जानेपर भी पर्देपर प्रतिचित्र बराबर उभरना चाहिये था. लेंस्को पर्देसे अपेक्षित अन्तरालसे न अधिक दूर और न अधिक पास रखे जानेपर ही प्रतिचित्र भलीभांति पर्देपर उभर पाता है. अतः प्रकाश स्वयं यदि अवयवावयविभावका वाहक होता तो ऐसा तारतम्य होना नहीं चाहिये था. ठीक इसी तरह प्रकाशतरंगोंके बजाय ज्ञानेन्द्रियसंस्थान ही हमें बाह्य पदार्थोंका व्यवस्थित प्रतिचित्र भलीभांति समझा पाते हैं, यद्यपि प्रकाशतरंगे केवल सन्देशवाहिका ही होती हैं और ज्ञानेन्द्रियसंस्थान उनके आगमनसे पूर्व स्वतः किसी भी तरहकी बाह्य जगत्के बारेमें किसी तरहके चित्रको घड़नेमें सक्षम नहीं हो पाते. प्रकाशतरंगोंमे बाह्यदृश्यमेंसे कितना अंश भौतिक वस्तुसे परावर्तित है और कितना अंश उसके चतुर्दिक् व्याप्त परिवेशसे इसकी सूचना लेशमात्र भी भिन्नरीतिक नहीं होती. भौतिक सतहके प्रत्येक कण अपराधीनतया प्रकाशको परावर्तित करते होते हैं.

एक भेड़के उदाहरणको लेकर समझना हो तो उसके शरीरकी सतहके दो प्रकाशपरावर्तक बिन्दु न तो अन्योन्य अंगोंके साथ आपसमें और न अंगी या उसके चतुर्दिक विद्यमान परिवेश के साथ तालमेल जुटा कर आपसी सहयोगद्वारा प्रकाशपरावर्तन करते हैं. अतः परावृत्त प्रकाशमें इस विषयकी किसी भी तरहकी सूचना उपलब्ध नहीं रहती कि उसके परावर्तक दृश्यविस्तारमें आकृति-परिवेशभाव या स्वयं आकृतिमे अंगांगिभाव क्या-कैसा होता है. वह तो नेत्रके पारदर्शी आवरण (लेंस्) द्वारा अन्तःप्रेषित होनेपर नेत्रपटलपर अंकित होते हैं. वहां जो भी बाह्य भौमितिक सम्बन्ध प्रकाशपरावर्तकोंका होता है, उन सम्बन्धोंका पुनरावर्तन होता है. यह भी किन्तु प्रत्येक प्रकाशसंवेदनशील सजीवकोश एक-दूसरेसे अपराधीनतया ही संवेदनाओंको गृहीत करते हैं. अतः नेत्रपटलके

उद्दीपनका जहां तक प्रश्न है तो उसमें तो किसी तरहकी संरचना या विभिन्न इकाईओंके पृथक्करण या समुदायकी समायोजना होती मानी नहीं जा सकती है. अतः नेत्रपटलपर तो वह भेड़ और उसके चतुर्दिक् विद्यमान परिवेश से परावृत्त प्रकाशका अविभाज्य अपृथक्कृत अखण्ड प्रभाव ही प्रकट होता है. परिशेषात् ज्ञानेन्द्रियोंसे जुड़े नाड़िकातन्त्र और मस्तिष्क में ही आकृतिगत अंगांगिभाव तथा आकृति-परिवेशगत दृश्यावयवावयविभाव पुननिर्मित होता है, यह स्वीकारनेको बाधित होना पड़ता है.[१७०]

अतः प्रकाशपरावर्तक बिन्दुओंके सतहसे परावृत्त प्रकाशसे उद्दीप्त प्रकाशसंवेदनशील नेत्रपटलान्तर्घटक सजीवकोशोंसे जुड़ी दृष्टिनाड़िका और मस्तिष्क में पुनर्निर्मित होनेवाले भौमितिक सम्बन्ध और अवयवावयविभाव रूपी सम्बन्धों की समरूपता ही अनुभूतिसंस्थानकी उपलब्धियोंका महत्त्व दरसाती है.

भारतीय दार्शनिक भाषोपयोगमें विषयजन्य बोधको जो 'अनुभव' कहा जाता है उसका ध्वनितार्थ यह भी होता ही है कि जो कुछ बाह्यमें घटित हुवा हो उसका आन्तर जगत्में पुनःघटित होना अनुभूति होती है. जैसे मूलग्रन्थमें किसी एक भाषामें कही गयी ही बातको दूसरी भी किसी भाषामें दोहरानेपर 'अनुवाद' कहा जाता है. यह सहज सम्भव है कि प्रत्येक भाषाकी कुछ अनुवादानर्ह विशेषतायें हो सकती हैं. परन्तु इन नगण्य अपवादोंको छोड़ कर अन्यथा बहोत सारी बातोंका अनुवाद अशक्य तो नहीं होता है. अतः भाषाकीय विशेषताओंके कुछ अपवादोंके कारण सारे अनुवादोंको मिथ्या मान लेने जैसी धांधली तब हम करने लग जाते हैं जबकि *अनुभूति* के भीतर जो कुछ *भवति* के अनुरूप दोहराया जा रहा हो उसे मिथ्या मानने लग जाते हैं!

इसे इस तरह मिथ्या मान कर स्वयं जीवनमें व्यवहार निभाना

शक्य न हो तब ऐसे व्यवहारको 'व्यावहारिक सत्य' या 'संवृति सत्य' कह कर और तर्कबुद्धिकी दुहाई दे कर परमार्थ सत्यको कुछ अलग दिखलाने लग जाना. वैसा पारमार्थिक सत्य अनुभूतिगोचर हो नहीं पाता तो उसे पुनः 'अज्ञेय'/'अवाच्य' और निखिल ज्ञेय-वाच्योंके अधिष्ठानतया बिरदाने लग जाना. इस तरह पुनः वह वाच्य भी और ज्ञेय भी बन रहा है, ऐसी असमञ्जसताकी ओर ध्यान आकृष्ट करनेपर, सकलवाच्योंके निषेधाधिष्ठानतया निरूपित करने लग जाना. परन्तु *''सकलवाच्योंके निषेधाधिष्ठानतया''* पदावलीसे पुनः विधिमुखतया वाच्य ही बनाये जाते होनेकी त्रुटिपर ध्यानाकर्षण करनेपर सकलवाच्यान्तर्गत एतत्पदावलीवाच्यताको भी निषेध्यतया प्राप्त होती होनेसे ऐसी पदावलीको आत्मनिरासकतया प्रतिपादित करने लग जाना. ज्ञान-ज्ञेयके उत्सर्गतया इतरेतराव्यभिचारी होनेकी वास्तविकताका अनंगीकार कहीं न कहीं ऐसे आत्मनिरासकपदसमूहद्वारा जन्य ज्ञानकी भी प्रमारूपतापर भी एक प्रश्नचिह्न तो लगा ही देता है. अस्तु.

गेस्टाल्टप्रक्रियाके बारेमें वाल्लभ वेदान्तका अभिप्राय महाप्रभुके इन शब्दोंमें उद्धृत कर इस तुलनात्मक विमर्शका समापन करना चाहेंगे कि **''संहत हो कर वृद्धिंगत होनेवाले अवयव गुप्त अवयवीको प्रकट कर देते हैं''** [१७१]. क्योंकि परस्पर संहत हो कर उपचित होनेवाले अवयवोंके कारण तिरोहित अवयवीके प्राकट्यका अस्वीकार करनेपर चिदंश और सदंशान्तर्गत चित्त अहंकार मन बुद्धि पञ्चज्ञानेन्द्रियों और पञ्चतन्मात्रा आदि अवयवोंके कारण प्रकट होते ज्ञाता रूपी अवयवीका भी अस्वीकार गलेपतित होगा. उसका भी ज्ञानसन्ततीमें विश्लेषणात्मक अवशेषण करनेपर, ज्ञातृघटक सामग्रियोंके वश ही एक अवयवितया प्रकट होनेवाले ज्ञानको भी अस्वीकार करना पड़ेगा. यदि ऐसे स्वयम्प्रकाश ज्ञानके भी अस्वीकारार्थ कोई उद्यत हो जाता हो तो अस्वीकारात्मक ज्ञान भी अन्ततः प्रकट नहीं हो पायेगा. एतावता यह सिद्ध होता है कि भ्रान्ति और प्रमा के स्वयं अनुभूयमान भेदोंके रहते केवल

एक भ्रान्तिज्ञान अथवा केवल एक प्रमाज्ञान के आधारपर न तो हमारे सर्वविध बोधकी सर्वांगीण विवेचना शक्य हो सकती है और न उनमें अवभासित होनेवाले अनकेविध पदार्थोंकी ही विवेचना भी! अतः आवश्यकता यथोचित विवेककी ही सर्वोपरि प्रतीत होती है. अतः गेस्टाल्ट् मनोविज्ञान और वाल्लभ वेदान्तकी मिलीजुली शब्दावलीमें इस तथ्यको अभिव्यक्त करना हो तो मैं यह कहना चाहूंगा कि बाह्य रूपसृष्टि दैशिक/कालिक परिच्छेदवाली होती है जबकि आन्तर नामसृष्टि अपरिच्छिन्न, बाह्य रूपसृष्टि जड़रूपा होती है परन्तु आन्तर नामसृष्टि चेतनात्मिका, बाह्य रूपसृष्टि परिवर्तनशील होती है जबकि आन्तर नामसृष्टि अपरिवर्तनशील[१७२]; तथापि, दोनोंके बीच प्रत्याय्य-प्रत्यायकभाव सम्बन्ध[१७३] स्वानुभूत्येकगम्य भी हो सकता है. जैसे रूपसृष्टिके अन्तर्भूत अवयवीके दृश्यरूपविस्तारके घटकीभूत अवयवोंके बीच कुछ सम्बन्ध रहता है, वैसे ही एक अवयवीका दूसरे अवयवीके साथ भी सम्बन्ध अनुभूत होता ही है. तदनुरूप ही नामसृष्टिमें भी एक अवयवी नामके घटक अनेक अवयवात्मक नामोंके बीच भी आपसी सम्बन्ध तथा दो अवयवी नामोंके बीच भी कुछ सम्बन्ध अनुभूत होते हैं. यों सम्बन्धोंकी इतरेतरानुरूपता ही प्रत्याय्यप्रत्यायकभावका आधार बनती है. इस अर्थमें गेस्टाल्ट मनोविज्ञानको वाल्लभ वेदान्त अपने साथ प्रत्यासन्नतया स्वीकार पायेगा.

(१५)<u>उपसंहारवचन</u> :

इस लेखनमें हमने यह दिखलानेकी चेष्टा की है कि कैसे यूरोपीय चिन्तनमें भ्रान्तिके बारेमें प्रकट उपलब्ध होते विमर्श या हमारेद्वारा उत्प्रेक्षित दृष्टिकोण, भ्रान्तिके बारेमें भारतीय चिन्तनसे, कहीं संवाद, तो कहीं विसंवाद, तो कहीं सर्वथा असंवाद का स्वरूप प्रकट करते हैं. दो चिन्तनोंके बीच संवाद शक्य न होनेपर दोनोंके बीच विसंवाद या असंवाद के हेतुओंको पहचानने प्रयास भी एक संवादकी ही प्रक्रियाका शुभारम्भ होता है.

वैसे यह सहज सम्भव है कि इन दोनों विचारधाराओंके बीच कुछ संवादप्रक्रिया खोज लेनेके उत्साहवश, या अनवबोधवश भी, प्रस्तुत लेखकने किसी विचारक या विचारधारा का अन्यथा प्रस्तुतीकरण किया हो. परन्तु पुनः उस त्रुटिके भी निरसनार्थ किसी न किसी तरहका संवाद ही तो अपेक्षित होता है. ऐसे विचारना कि वाल्लभ वेदान्त एक श्रुत्यादि शास्त्रोंके प्रामाण्यपर निर्भर होनेवाला व्याख्यारूप शास्त्रीय चिन्तन है अतः असंवदनीय है; अथवा, यूरोपीय चिन्तन तार्किक या वैज्ञानिक होनेके कारण तथा हमारे शास्त्रोंका प्रामाण्य स्वीकारता न होनेसे असंवदनीय है, ऐसे तो दोनों ही दृष्टिकोण विश्वकी दिनानुदिन संकीर्ण होती जाती सर्वविध सीमाओंसे अपने-आपको जानबूझ कर पराङ्मुख बनानेकी शुतुरमुर्गी मनोवृत्तिको उजागर करने जैसी ही बात होगी. ज्ञानकी सभी विधाओंके बीच रहे विसंवाद और असंवाद के द्वैतोंको बाधित किये बिना या निरसनीय माने बिना, अर्थात् विसंवादासंवादके हेतुओंके बारेमें एक संवादात्मक शुद्धाद्वैतका अनुदर्शन ही सर्वविध क्षोभ-मोह-भीति आदिकी कष्टदायिका वृत्तिओंके निरसनार्थ सक्षम उपाय प्रतीत होता है, अन्य कुछ भी नहीं.

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः !॥[१७४]

उद्धृतवचनसन्दर्भ

१.महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकृत तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।५६-६६.
२.श्रीबालकृष्णभट्टकृत प्रमेयरत्नार्णवपूर्वार्ध प्र.वि.पृ. २-३.
३.महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकृत त.दी.नि. : १।६७-७२.
४.गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमकृत प्रस्थानरत्नाकर : प्रमा.परि.कल्लो.१ तरं.१.
५.महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकृत त.दी.नि. : १।७७.
६.श्रीवालकृष्णभट्टकृत-प्रमेयरत्नार्णवोत्तरार्ध ख्या.वि.पृ.९२-९३.

७.गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमकृत प्रस्थानरत्नाकर : तत्रैव.
८.द्र.महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकृत भागवतसुबोधिनी : ३।२६।१-७२.
९.महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकृत भागवतसुबोधिनी : ३।२६।२९-३०.
१०.महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकृत भागवतसुबोधिनी : २।९।३३.
११.गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमकृत प्रस्थानरत्नाकर : प्रमा. परि.कल्लो.१तरं.२,३,४. तथा कल्लो.२ तरं.३ तथा तरं.६.
१२.जॉह्न् हॉस्पर्सकृत "एन् इन्ट्रॉडक्शन् टु फिलोसोफिकल् एनालसीस्"के आधारपर.
१३.द्रष्ट.एल्.एस्.स्टेबिंगकृत 'ॲ मॉडर्न् इन्ट्रॉडक्शन् टु लॉजिक्' चेप्ट.४ पृ.५८-५९.
१४.बर्ट्रेंड रसेलकृत 'ॲ हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी' पृ.२४-२८.
१५.तत्रैव.
१६.तत्रैव.
१७.एस.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक् टीचिंग्स् ऑफ ग्रेट् फिलॉसोफर्स्' पृ.३-४.
१८.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.२७७.
१९.तत्रैव.
२०.द्र.ब.र.कृत 'अ हिस्ट्री.' पृ.४०.
२१.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.' पृ.५.
२२.ब.र.कृत 'विज़्डम् ऑफ् वेस्ट्' पृ. ४२-४४.
२३.भागवतपुराण : ३।९।११.
२४.एस.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.' पृ.२७८.
२५.एस.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.' पृ.५-७
२६.एस.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.' पृ.२७८.
२७.न्यायसिद्धान्तमुक्तावली : १२९.
२८. केनोपनिषद् : २।११-१२.
२९.डब्ल्यु.टी.स्टेस्कृत 'ॲ क्रिटिकल् हिस्ट्री ऑफ् ग्रीक् फिलोसोफी' पृ.१३०.
३०.भागवतपुराण : १०।३।२७.
३१.डब्ल्यु.टी.स्टेस्कृत 'ॲ किटिकल् हिस्टॉरी ऑफ् ग्रीक् फिलोसोफी' पृ.१४३.
३२.द्र.तत्रैव.
३३.भागवतसुबोधिनी : १०।१३।४३.

३४.द्र.तत्रैव : २।६।१.
३५.तैत्तिरीयोनिषद् : २।७।१.
३६.द्र. एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.११-१२.
३७.अरिस्तोल्कृत 'दॅ अनीमा' : ३।२।४२७.
३८.भागवतसुबोधिनी : २।६।३८-३९.
३९.तत्रैव : २।९।९-१८.
४०.ब.र.'अॅ हिस्ट्री.'पृ.२९७.
४१.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.१८.
४२.तत्रैव.पृ.२६२.
४३.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.२८२-२८३, द्र. द कन्फेशन्स् १०।२२-२८.
४४.सन्त ऑगस्ताइन्कृत 'द कन्फेशन्स्' : १३।५.
४५.द्र.''अतः सन्दिग्धाः जडधर्मत्वेन प्रतीयमानाअपि ब्रह्मधमाएव इति युक्तम्. नहि ब्रह्मवादः श्रुतिव्यतिरेके सिद्धो अस्ति, येन ब्रह्मधर्माभावो निश्चेतुं शक्येत'.'(ब्र.सू.भा.१।३।३), ''नच श्रुतं युक्त्या बाधनीयं... शब्दैकगम्यत्वात्. अचिन्त्या खलु ये भावाः न तान् तर्केण योजयेत्. अर्वाचीनविकल्पविचारकुतर्कप्रमाणाभासशास्त्र कलिलान्तःकरणदुरवग्रहवादिनां वादानवसरे ब्रह्मणि विरोधाभावात् च'.'(ब्र.सू.भा.२।१।२७).
४६.द्र.भागवतसुबोधिनी : २।९।३५.
४७.ब.र.कृत 'अ हिस्ट्री.' पृ.४३५.
४८.तत्रैव.
४९.प्रस्थानरत्नाकर : कल्लो.२।तरं.२.
५१.ब.र.कृत 'अ हिस्ट्री.' पृ.४३७-४३८.
५२.द्र.तत्रैव.
५३.ब्रह्मसूत्राणुभाष्य : २।२।३७.
५४.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.२१-२२.
५५.द्र.सन्त थोमस् अक्वीनाकृत 'सुम्मा कॉन्त्रा जेन्ताइल्स्' : १।६६ पृ.२१७-२२०.
५६.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.२८३-३८४.
५७.ब्रह्मसूत्राणुभाष्य : १।२।३२.
५८.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.२४.

५९.ब.र.कृत 'अ हिस्ट्री.' पृ.४१७.
६०.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.२८.
६१.तत्रैव.पृ.२८५.
६२.द्र.भावगतपुराणं(३।११।४०-४१) : ''आण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्ट परमाणुवत् लक्ष्यन्तेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणं विष्णोर्धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः'.'
६३.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.२६.
६४.रिचाई फाल्कन्बर्ग्कृत 'हिस्टॉरी ऑफ् मॉडर्न् फिलोसोफी'पृ.२०-२१.
६५.तत्रैव पृ.२४.
६६.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.२८.
६७.तत्रैव.पृ.२८-२९.
६७.द्र.ब.र.कृत 'अ हिस्ट्री.'पृ.४९३-४९४.
६८.रिचाई फाल्कन्बर्ग्कृत 'हिस्टॉ.मॉड.फिलो.'पृ.६६.
६९.रिचाई फाल्कन्बर्ग्कृत 'हिस्टॉ.मॉड.फिलो.'पृ.तत्रैव.
७०.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.२९.
७१.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.२९-३०.
७२.रिचाई फाल्कन्बर्ग्कृत 'हिस्टॉ.मॉड.फिलो.'पृ.७५.
७३.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.२६७.
७४.रिचाई फाल्कन्बर्ग्कृत 'हिस्टॉ.मॉड.फिलो.'पृ.५५८.
७५.रिचाई फाल्कन्बर्ग्कृत 'हिस्टॉ.मॉड.फिलो.'पृ.८६-१०७.
७६.रिचाई फाल्कन्बर्ग्कृत 'हिस्टॉ.मॉड.फिलो.'पृ.९४.
७७.द्र.महाप्रभु श्रीवल्लभ.कृत त.दी.नि. : १।६५-६८.
७८.द्र.महाप्रभु श्रीवल्लभ.कृत त.दी.नि. : १।७०-७१.
७९.द्र.बारुक् स्पिनोज़ाकृत 'दि एथिक्स्' : १-२।पृ.४५-१२७.
८०.द्र.महाप्रभु श्रीवल्लभ.कृत त.दी.नि. : १।१, ६, ११-१३.
८१.बारुक् स्पिनोज़ाकृत 'दि एथिक्स्' : परि.१ विधा.१५/प्रुफनोट पृ.५५.
८२.महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकृत त.दी.नि. : १।६-९,१०४.
८३.बारुक् स्पिनोज़ाकृत 'थियोलोजिकल ट्रीटिज़्' : चेप्ट.१-७.
८४.द्र.ब्रह्मसूत्राणुभाष्य(१।१।३) : ''पुरुषार्थस्य शास्त्रार्थस्य स्वरूपं शास्त्रैकसमधिगम्यं न स्वबुद्धिपरिकल्पितम्. अतः स्वबुद्ध्या शास्त्रार्थं परिकल्प्य तत्र शास्त्रं योजयन्तो महासाहसिकाः सद्भिः उपेक्ष्याः'.'

८५.बारुक् स्पिनोज़ाकृत 'थियो.ट्रीटि.' : चे.५।पृ.७८, चे.१३।पृ.१७५-१८१.
८६.बारुक् स्पिनोज़ाकृत 'ऑन दि इम्प्रुवमेन्ट ऑफ दि अन्डर्स्टेन्डिग्' पृ.८-९.
८७.बारुक् स्पिनोज़ाकृत 'दि एथिक्स् : २।३४-३५.
८८.द्र.रिचाई फाल्कन्बर्ग्कृत 'हिस्टॉ.मॉड्.फिलो.पृ.१४८.
८९.रिचाई फाल्कन्बर्ग्कृत 'हिस्टॉ.मॉड.फिलो.'पृ.१४४-१४८.
९०.द्र.भगवद्गीता : ७।७, ९।४-६, ११।७, १३।२.
९१.द्र.भागवतसुबोधिनी : १।१९।१६.
९२.द्र.ब.र.कृत 'अ हिस्टॉ.'पृ.६०४-६०५.
९३.ए जे एयर् संकलित 'ब्रिटिश् ईम्पिरिकल् फिलोसोफी'में लोक. : १।३०-३२३।१०६-१०.
९४.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.२७०, २८७.
९५.रिचाई फाल्कन्बर्ग्कृत 'हिस्टॉ.मॉड.फिलो.'पृ.२१४-२२०.
९६.तत्रैव पृ.२८७.
९७.तत्रैव पृ.२८१.
९८.तत्रैव पृ.२८३.
९९.नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् : ४।४।९.
१००.ब.र.कृत 'अॅ हिस्टॉ.'पृ.५८३,५९५.
१०१.डेविड् ह्यूम्कृत 'ट्रीटीज़् ऑफ ह्यूमन् नेचर्' : बुक्.१।पार्ट.२।सेक्.६.
१०२.द्र.ब.र.कृत 'अॅ हिस्टॉ.'पृ.७०१-७१८ तथा 'पेंग्विन डिक्शनरी ऑफ् फिलोसोफी'८९.
१०३.नोर्मन् केम्पसम्पादित 'इमानुएल् कान्ट्की क्रिटिक् ऑफ् प्योर् रीज़न्'पृ.१३६.
१०४.तत्रैव पृ.१२७.
१०५.तत्रैव पृ.४७२.
१०६.तत्रैव पृ.१६८.
१०७.तत्रैव पृ.२६८.
१०८.तत्रैव पृ.३००.
१०९.तत्रैव पृ.८८.
१११.तत्रैव पृ.२४७.
११२.तत्रैव पृ.२९७-२९९.
११३.तत्रैव पृ.२९९.
११४.तत्रैव पृ.३५०.
११५.रिचाई फाल्कन्बर्ग्कृत 'हिस्टॉ.मॉड.फिलो.'पृ.३४६-३४९.

११६.द्र.क्रि.प्यो.री.पृ.१६८.
११७.महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकृत पत्रावलम्बन : २.
११८.द्र.क्रि.प्यो.री.पृ.१३६ : This pure original Unchange able consciousness I shall name 'transcendental apperception'. That it deserves this name is clear from the fact that even the purest objective Unity, namely, that of a priori concepts(space and time) is only possible through relation of the intuition to such unity of consciousness.
११९.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.४२-४४.
१२०.रिचाई फाल्कन्बर्ग्कृत 'हिस्टॉ.मॉड.फिलो.'पृ.४४९, ४६३.
१२१.तत्रैव पृ.४५६-४५९.
१२२.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.४५.
१२३.बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।१.
१२४.रिचाई फाल्कन्बर्ग्कृत 'हिस्टॉ.मॉड.फिलो.'पृ.(क)४६३, (ख)४६५. (ग)४६०.
१२५.द्र.अणुभाष्य : १।१।२, २।३।२९-४२.
१२६.भागवतसुबोधिनी : २।९।३२.
१२७.भागवतपुराण : २।९।७-१४.
१२८.एस्.ई.फ्रॉस्ट्कृत 'द बेज़िक्.'पृ.४, २७४.
१२९.ऋक्संहिता : १०।१२९।४ - तैत्तिरीयोपनिषद् : २।६.
१३०.तैत्तिरीयोपनिषद् : २।७.
१३१.ब.र.कृत 'अॅ हिस्टॉ.' पृ.५७८.
१३२.द्र.फ्रेंक् एन् मेक्गिल् सम्पा.'मास्टरपीस् ऑफ वर्ल्ड् फिलोसोफी' पृ.७०६-७०७.
१३३.एफ्.एच्.ब्रेड्लेकृत 'एपीयरेंस् एंड् रियालिटी' : परि.२४ पृ.३१८-३२६.
१३४.द्र.तत्रैव पृ.१६४-१७३.
१३५.द्र.गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमकृत प्रस्थानरत्नाकर : १।२।६.
१३६.द्र.ब.र.कृत 'द विज़्डम् ऑफ् वेस्ट्' पृ.२७८.
१३७.द्र.'मास्टरपीसिज़् ऑफ् वर्ल्ड् फिलोसोफी' पृ.७८४.
१३८.द्र.ब.र.कृत 'लोजिक् एंड नोलेज्' पृ.१४१ तथा १४३ पर उद्धृत.
१३९.द्र.'मास्टरपीसिज़् ऑफ् वर्ल्ड् फिलोसोफी' पृ.७८७.

१४०.श्रीवाचस्पति मिश्रकृत ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यभामति : १।१।१.
१४१.द्र.'पेंग्विन् डिक्शनरी ऑफ् फिलोसोफी' पृ.६४.
१४२.द्र.'मास्टरपीसिज़् ऑफ् वर्ल्ड् फिलोसोफी'में संकलित 'द टाइम् एंड् फ्री विल्' तथा 'एन् इन्ट्रॉडक्शन् टु मेटाफिज़िक्स्' पृ.७०३-७०५,७४९-७५५.
१४३.ब.र.कृत 'अवर् नोलेज् ऑफ् एक्स्टर्नल् वर्ल्ड्' पृ.२५.
१४४.द्र.'मास्टरपीसिज़् ऑफ् वर्ल्ड् फिलोसोफी' पृ.८२३-८२९.
१४५.ब.र.कृत 'विज़्डम् ऑफ् वेस्ट्' पृ.२९७.
१४६.'मास्टरपीसिज़् ऑफ् वर्ल्ड् फिलोसोफी'में संकलित 'प्रॉसेस् एंड् रियालिटी'का सार पृ.९२१-९२८.
१४७.द्र.भागवतसुबोधिनी : १०।१३।४३.
१४८.भागवतसुबोधिनी : ३।९।९.
१४९.पॉल् आर्थर् स्किल्पद्वारा सम्पादित 'द फिलोसोफी ऑफ बर्ट्रेंड् रसेल्' पृ.५७.
१५०.तत्रैव पृ.८८.
१५१.द्र.ब.र.कृत 'अॅ हिस्टॉ.'पृ.८३२-८३३.
१५२.द्र.पॉल् आर्थर् स्किल्पद्वारा सम्पादित 'द फिलो.बर्ट्रें.रसे.' पृ.६९७.
१५३.द्र.प.द.इ.पृ.८३०.
१५४.'बर्ट्रेंड् रसेल्'स् फिलोसोफी' नामक निबन्धसंग्रहमें रोड्रिक् एम. कीशोल्म्का निबन्ध 'साक्षात्परिचयात्मक बोध' पृ.४७.
१५५.ब.र.कृत 'लोजिक् एन्ड् नॉलेज्' पृ.१३१-१३९.
१५६.ब.र.कृत 'मिस्टिसीज़म् एंड् लोजिक्' पृ.१५२-१५६, 'प्रॉब्लेम्स् ऑफ् फिलोसोफी पृ.२५-२८.
१५७.द्र.ब.र.कृत 'लोजिक् एंड् नोलेज्' पृ.१८७-१८८.
१५८.द्र.तत्रैव पृ.२२९-२३०.
१५९.द्र.ब.र.रचित लेखसंग्रह 'व्हाय् आई एम् नोट् क्रिश्चियन्' पृ.१४४-१५५.
१६०.द्र.ब.र.कृत 'लोजिक् एंड् नोलेज्' पृ.१९३.
१६१.ब.र.कृत 'अवर् नोलेज् ऑफ् एक्स्टर्नल् वर्ल्ड्' पृ.७१ — 'ह्यूमन् नोलेज्: इट्स् स्कोप् एंड् लिमिट्स्' पृ.१८२.
१६२.भागवतसुबोधिनी : २।९।३३ — ३।२६।२९.
१६३.द्र.ब.र.कृत 'प्रॉब्लेम्स् ऑफ फिलोसोफी'पृ.१९-२४.

१६४.शेल्डोन् और थियोडोर् लिखित 'कंटेम्परारी फिलोसोफी एंड् इट्स् ओरिजिन्' पृ.१५-५८.
१६५.तत्रैव पृ.८५-११५.
१६६.तत्रैव पृ.१८९-२२८.
१६७.तत्रैव पृ.२५२-३१३.
१६८.द्र. वोल्फेंग् कोह्लेरकृत 'गेस्टाल्ट् सायकोलोजी' पृ.७.
१६९.द्र.तत्रैव पृ.८-९.
१७०.द्र.तत्रैव पृ.९४.
१७१.भागवतसुबोधिनी : २।१।२४.
१७२.द्र.भागवतसुबोधिनी : १०।१३।४३.
१७३.द्र.प्रस्थानरत्नाकर पृ. .
१७४.ईशावास्योपनिषद् : ६-७.